संघर्ष का सत्य

उपेन्द्र नाथ अश्क

संघर्ष का सत्य

उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रकाशकीय

संघर्ष का सत्य—अश्क जी के अत्यन्त प्रसिद्ध उपन्यास 'गर्म राख' का छात्रोपयोगी, संशोधित और संक्षिप्त संस्करण है। 'गिरतीदीवारें' के बाद 'गर्म राख' अश्क जी का अत्यन्त लोकप्रिय वृहद् उपन्यास है, जिसका अनुवाद न केवल देशीय, वरन विदेशीय भाषाओं में भी हो चुका है और जिसकी ख्याति और लोकप्रियता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है।

'गर्म राख' को पढ़ कर हिन्दी के एक जाने-माने आलोचक तथा विश्वविद्यालय के प्रमुख प्राध्यापक ने एक बार इच्छा प्रकट की थी कि यदि इसे भी संक्षिप्त करके (ऐसे सन्दर्भों को निकाल कर, जिनका तरुण छात्रों पर किसी तरह का वैसा प्रभाव पड़ने की आशंका हो) उसका एक छात्रोपयोगी संस्करण तैयार किया जाय तो बहुत अच्छा हो और हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में इस उपन्यास की जो देन है, उससे छात्र भी अवगत हो सकें। छात्रोपयोगी दृष्टि से 'गर्म राख' का संक्षिप्त संस्करण तैयार करना बड़ा कठिन था। इसे लेखक के सिवा कोई दूसरा हाथ में न ले सकता था, क्योंकि ऐसे संस्करणों में, जहाँ इस बात की अपेक्षा होती है कि हर प्रकार की अनावश्यक सामग्री निकाल दी जाय, वहाँ इस बात को भी देखना होता है कि एक भी आवश्यक पंक्ति कटने न पाये। अश्क जी की उपन्यास-शैली का यह गुण है कि वे व्यक्ति को समाज के परिपार्श्व में रख कर देखते हैं। व्यक्तियों से ही समाज बनता है, इसलिए व्यक्ति के मनोवेगों को नज़र-अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। परन्तु समाज के बिना व्यक्ति अपने में कुछ नहीं—रेगिस्तान का अकेला पथिक है, जो जीवन भर उसी में भटकेगा, न किसी से प्रभावित होगा, न किसी पर प्रभाव डालेगा। लेकिन हम आप रेगिस्तान के पथिक नहीं, समाज के अंग हैं। हम पर समाज का प्रभाव क्षण-क्षण पड़ता है और हम उसको अनुक्षण प्रभावित भी करते हैं। समाज के बीच रहने वाला व्यक्ति समाज को बदलता भी है और समाज से बदला भी जाता है। अश्क के उपन्यासों में यह सत्य दोनों पहलुओं में क्रियाशील दिखायी देता है। अश्क जहाँ समाज और उसकी कुरीतियों का चित्रण करते हैं, वहाँ व्यक्ति

ग्रौर उसके मनोवेगों को भी नहीं भूलते। इसीलिए उनके उपन्यासों की हर पंक्ति का अपना महत्व रहता है। इतने बड़े उपन्यास में कौन-सी पंक्तियाँ काटी जायँ ग्रौर कौन-सी रखी जायँ कि न कहानी का क्रम टूटे, न विचारधारा का; न कोई वैसा सन्दर्भ रहे, न उसके कट जाने से उपन्यास के ग्राधारभूत विचार के साथ अन्याय हो ग्रौर न समाज ग्रथवा व्यक्ति के चित्रण को धक्का लगे— यह काम ग्रत्यन्त कठिन था ग्रौर इसे, हमारे ख़याल में, लेखक के सिवा कोई दूसरा, सन्तोषप्रद रूप से नहीं कर सकता था।

ग्रश्क जी का जीवन इधर कुछ वर्षों से ग्रत्यधिक व्यस्त हो गया है, लेकिन इस व्यस्तता के रहते भी जब उनकी किसी पुस्तक का नया संस्करण होता है, वे उसे एक नज़र देख लेते हैं। 'गर्म राख' का दूसरा संस्करण जब होने जा रहा था, हमने ग्रश्क जी से एक संक्षिप्त छात्रोपयोगी संस्करण तैयार करने को कहा था। तब उन्होंने चार महीने के श्रम से 'संघर्ष का सत्य' तैयार कर दिया।

ग्रब इसका दूसरा संस्करण ग्रापके सम्मुख है। ग्राशा है, जिस उद्देश्य से लेखक ने इतना काम किया, वह उत्तरोत्तर पूरा होता रहेगा। रोज़ वे इसको ले कर बैठते ग्रौर तीन-चार घण्टे तक इसके हर शब्द ग्रौर हर पंक्ति पर विचार करते। इसका यह लाभ हुग्रा कि उपन्यास हर त्रुटि से पाक ग्रौर पूर्णरूपेण छात्रोपयोगी बन गया।

ग्रश्क जी का श्रम विफल नहीं गया। उपन्यास का ग्राधारभूत सत्य, जिसे वृहद उपन्यास के पात्रों, घटनाग्रों ग्रौर विचारधाराग्रों की भीड़ में ढूँढ़ पाना साधारण पाठक के लिए कठिन था, इसमें उभर कर सामने ग्रा गया है। बहुत कुछ कट जाने से उपन्यास का रूप ग्रौर इसीलिए उसका नाम बदल गया है। ग्रपने वर्तमान रूप में यह कहीं ग्रधिक परिष्कृत, संगठित, सरस, मनोरंजक ग्रौर उपादेय हो गया है। प्रस्तुत उपन्यास यथेष्ट लोकप्रिय हुग्रा। ग्रसम, गुजरात ग्रौर केरल विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित हुग्रा है ग्रौर केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा खरीदा गया।

ग्रब इसका चौथा संस्करण ग्रापके सम्मुख है। ग्राशा है, जिस उद्देश्य से लेखक ने इतना श्रम किया, वह उत्तरोत्तर पूरा होता रहेगा।

—प्रकाशक

एक

"हमारी नयी लेखिका !" महाशय गोपालदास ने किंचित गर्व से कहा ।

बात आज की नहीं, उस ज़माने की है, जब पाकिस्तान को अस्तित्व में आने के लिए अभी नौ-दस वर्ष दरकार थे, लाहौर की एकमात्र मुख्य मासिक पत्रिका, 'मालती' के सम्पादक, महाशय गोपालदास और अस्तंगत 'मंजरी' के सम्पादक कवि 'चातक' आमने-सामने बैठे थे । तभी महाशय जी ने 'मालती' का ताज़ा अंक बीच में से खोल कर श्री चातक की ओर बढ़ाया ।

श्री चातक ने 'मालती' का वह अंक उन से ले लिया और बड़ी उत्सुकता से उस नयी लेखिका का चित्र देखने लगे ।

"हर महीने मालती एक-न-एक नयी लेखिका हिन्दी-संसार को देती है," महाशय गोपालदास ने उसी गर्व-स्फीत स्वर में कहा, "पंजाब में हिन्दी का प्रचार केवल लड़कियों में है और लड़कियों में जो पत्रिका सबसे अधिक जाती है, उसका नाम है—'मालती !' मालती के पाठकों ही में नहीं, लेखकों में भी लड़कियों की संख्या अधिक है । आपके लिए उचित क्षेत्र यही है ।"

महाशय गोपालदास ने क्या कहा, कवि चातक ने इस ओर ध्यान नहीं दिया । वे तल्लीनता से उस नयी लेखिका का चित्र देख रहे थे । उन्होंने देखा—एक लड़की खड़ी है; साड़ी का पूरा पल्लू सिर पर है; होंट बन्द हैं और आँखों में गम्भीरता है । रंग गोरा है अथवा काला, यह बात फ़ोटो को देख कर कह सकना कठिन था, पर रंग से कवि चातक को उतनी दिलचस्पी भी न थी । वे जिस समय किसी युवती को देखते, सदा पहले, अपनी अत्यन्त कुरूप और अनपढ़ पत्नी से उसकी तुलना कर लेते । इसलिए 'मालती' की यह नयी लेखिका, कुल मिला कर, उन्हें बड़ी सुन्दर लगी और उन्होंने मन-ही-मन उसको सम्बोधित कर—'तुम्हारा प्रथम चित्र देख कर' नाम से कविता लिखने का भी निश्चय कर लिया ।

प्रत्येक युवती, जिससे कवि चातक का परिचय होता अथवा होने की सम्भावना होती, अजाने ही उन पर मुग्ध हो जाती है, कवि चातक का यह अटल

विश्वास था और 'मालती' की इस नयी लेखिका के सम्बन्ध में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर लेना भी इसी कारण उन्होंने ज़रूरी समझा ।

"कितनी कहानियाँ छपी हैं इनकी ?" उन्होंने पूछा ।

"यही पहली है," मालती-सम्पादक बोले, "परन्तु मैं इनसे और कहानियाँ लिखने का अनुरोध कर रहा हूँ । बल्कि इनसे यह भी कहा है कि अपनी छात्राओं से भी लिखवा कर भेजें ।"

"तो क्या ये कहीं स्कूल में पढ़ाती हैं ?"

"बन्दा बैरागी स्ट्रीट, गोपालनगर में इन्होंने अपना स्कूल खोला है—सत्या विद्यालय !"

"हूँ—" और कवि सोचने लगे ।

"हमारी 'मालती' न केवल इनके विद्यालय में जाने लगी है," महाशय जी ने जोश से कहा, "बल्कि इन्होंने वचन दिया है कि वे गोपालनगर में घर-घर 'मालती' पहुँचा देंगी । आप 'मंजरी' न चला सके, पर देखिए हमारी 'मालती' किस प्रकार दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रही है । पत्रिका को सफल बनाने के लिए सुन्दर कविताएँ, कहानियाँ और लेख ही दरकार नहीं, ग्राहकों से व्यक्तिगत सम्पर्क बनाना भी ज़रूरी है ।" और महाशय जी सन्तोष से हँसे ।

कवि चातक ने कदाचित उनका यह वक्तव्य नहीं सुना । "मैं सोचता हूँ," उन्होंने कहा, "आपकी इन सत्या जी ने हमारी एक भारी मुश्किल आसान कर दी ।"

महाशय गोपालदास ने उत्तर में केवल मुँह बा दिया ।

"मेरी बड़ी पुरानी साध है," कवि चातक ने कहा, "कि पंजाब लिट्रेरी-लीग की तरह हम भी एक 'संस्कृति-समाज' की स्थापना करें । मन्त्री ज़रा दौड़-धूप करने वाला चाहिए, सो उसके लिए मेरा ख़याल था कि जगमोहन से कह दूँगा । महिला-मन्त्री की आवश्यकता थी, उसके लिए सत्याजी मान जायँ तो बात बन जाय !"

और यह कहते हुए कवि चातक उठे ।

"क्यों नहीं, क्यों नहीं !" महाशय गोपालदास ने खीसें निपोरीं, "मैं शान्ता बहन जी से कहूँगा ।"

"उससे सत्या जी का क्या सम्बन्ध ?"

"सत्या जी उनकी पुरानी शिष्या हैं। उन्हीं के यहाँ तो सत्या जी से हमारा परिचय हुआ था। आप शान्ता जी को निमन्त्रित करेंगे तो सत्या जी अपने-आप आ जायँगी।"

"अच्छा तो चल दिये!" कहते हुए कवि उठे, "कविता अब जो भी पहली हम लिखेंगे, आपको भेजेंगे। मूड तो बन गया है, हो सकता है आज ही एक हो जाय!"

महाशय गोपालदास साथ ही उठे, "चित्र साथ में भेजना आप न भूलिएगा!" उन्होंने कहा।

परन्तु चातक मन-ही-मन अपनी नयी कविता की पहली पंक्ति गुनगुनाने लगे थे :

चित्र तुम्हारा देखा सुन्दर....

o

मालती-कार्यालय से नीचे उतर कर अभी कवि चातक कुछ ही कदम चल पाये थे और उनकी कविता की पंक्ति अभी उनके होंटों पर न आ पायी थी कि उन्हें सामने से धर्म जी आते दिखायी दिये।

पंडित धर्मदेव वेदालंकार (जिन्हें उनके मित्र 'पंडित जी,' 'धर्म जी' या केवल 'वेदालंकार जी' कह कर पुकारते थे) रूप, रंग और भूषा से न पंडित लगते थे, न धर्मदेव, न वेदालंकार—पहनावे से तो वे हाल ही में स्वदेश लौटे कोई इंग्लिस्तान-पलट युवा अफ़सर दिखायी देते थे, पंडित अथवा वेदालंकार कदापि नहीं। वेदालंकारी के ज़माने की यदि कोई बात उनमें शेष रह गयी थी तो वह था उनका साइकिल पर पिछले पहिये की खूँटी से फुदक-फुदक कर चढ़ना।

वे ब्राह्मण न थे, पर आर्यसमाज का सिद्धान्त है कि वर्ण जन्म से नहीं, कर्म से होता है और इसी सिद्धान्त के अनुसार गुरुकुल के सभी स्नातक, ब्राह्मण हों अथवा अब्राह्मण, अपने-आपको पंडित लिखते थे। श्री धर्मदेव अरोड़ा थे और गुरुकुल से निकलते ही उन्होंने अपने-आपको पंडित लिखना आरम्भ कर दिया था। परन्तु इस बात को वर्षों बीत चुके थे—अब न उनके वे पंडिताऊ कपड़े थे, न यज्ञोपवीत, न चुटिया, न वे रूखे-खड़े, तेल और कंघी की कृतज्ञता से मुक्त केश और न वह आस्तिकता। रहा आर्यसमाज, तो उसके वार्षिक चुनाव के अतिरिक्त वे उसकी

किसी बैठक में भाग न लेते। वार्षिक चुनाव में भी इसलिए कि उसकी कार्य-कारिणी में बने रहना उन्हें प्रिय था। लाहौर आर्यसमाज के प्रधान मन्त्री गुरुकुल के एक पुराने स्नातक और उनके सहपाठी मित्र, पंडित बकुलसेन विद्यालंकार थे। जहाँ धर्मदेव उन्हें मन्त्री बने रहने में सहायता देते, वे उनको, किसी प्रकार के कार्य से सम्बन्ध न रखने पर भी, कार्यकारिणी का सदस्य चुन लेते।

बिना कोई विशेष काम किये सभा-सोसाइटियों की कार्यकारिणियों का सदस्य बनना, उनके विशेष अधिवेशनों में अपनी सुशिक्षित, सुसंस्कृत, सुसज्जित पत्नी के साथ जाना और उनके विशिष्ट सदस्यों को अपने घर बुला कर चाय पिलाना और उन पर अपनी विद्वत्ता और पत्नी की सुन्दरता का रोब गाँठना पंडित धर्म-देव वेदालंकार का प्रिय शग़ल था। यही कारण था कि जब श्री चातक ने अपने संस्कृति-समाज की कार्यकारिणी की बात सोची तो वेदालंकार जी का नाम उन्होंने सब से पहले रख लिया।

"कहिए धर्म जी किधर से ?" कवि चातक ने पंडित धर्मदेव के पास आते ही पूछा।

धर्म जी साइकिल से उतरे। "सर सिकन्दर हयात ख़ाँ के यहाँ गया था।" उन्होंने ऐसी बेपरवाही से कहा, जैसे पंजाब के मुख्य-मन्त्री उनके नाई अथवा धोबी हों।

"सर सिकन्दर के यहाँ?" श्री चातक ने भरसक आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा।

"हाँ, वो 'कलाकार-संघ' वाले एक शो देने जा रहे हैं न ! निम्मो जी (धर्म जी की पत्नी) उसमें भाग ले रही हैं; उन सबका अनुरोध था कि मैं सर सिकन्दर से उसका उद्घाटन करने को कहूँ। कहिए आप किधर ?"

"घर जा रहा था। मालती-सम्पादक बरबस पकड़ कर ऊपर ले गये।"

"कई दिनों से आप हमारी ओर नहीं आये !"

"आज ही कल में आ कर आपको कष्ट देने की सोच रहा था। आप से जिस संस्कृति-समाज की बात हुई थी, सोचता हूँ, उसकी एक अनौपचारिक बैठक करके उसे आरम्भ कर दिया जाय।"

"अवश्य, अवश्य, मेरा पूरा सहयोग आपके साथ रहेगा।"

और उन्होंने साइकिल की पिछली खूँटी पर पाँव रखा।

"मैं चाहता था, आप और हम इकट्ठे मिल कर उसकी कुछ रूप-रेखा बना लें। किन-किन लेखकों और कलाकारों को उसकी पहली बैठक में बुलाया जाय ? प्रधान-मन्त्री तो आप ही रहेंगे, दौड़-धूप करने वाला एक सहायक-मन्त्री आपको दे दिया जायगा।"

पंडित धर्मदेव ने खूँटी पर रखा हुआ पाँव फिर नीचे कर लिया। और वहीं श्री चातक के साथ चलते-चलते उन्होंने विभिन्न नाम गिनाने शुरू किये, जिन्हें पहली बैठक में बुलाना ज़रूरी था। श्री चातक को किसी नाम में आपत्ति न हो, इस विचार से वे प्रत्येक व्यक्ति की सांस्कृतिक योग्यता, संस्कृति के प्रसार में उसकी लगन और उससे संस्कृति-समाज का जो लाभ हो सकता था, उसका सविस्तार ब्योरा देते गये।

वेदालंकार जी अपने सभी मित्रों के गुण सविस्तार बता रहे थे और श्री चातक उनके ज्ञान और उनके मित्रों और परिचितों के विशाल सर्कल से प्रभावित थे कि कवि ने देखा—पंडित धर्मदेव भाटी गेट की ओर जाने के बदले अनारकली की ओर मुड़े जा रहे हैं....

"इधर से !" श्री चातक ने रुक कर पूछा, "आपने घर क्या बदल लिया ?"

"नहीं, मैं यथा-सम्भव भाटी-गेट की ओर से नहीं जाता," श्री धर्मदेव ने नाक-भौं चढ़ा कर बड़ी उपेक्षा से कहा, "वह रास्ता बड़ा गन्दा है। मैं तो माल ही से जाता हूँ।"

"पर उधर से जाने में तो बड़ा चक्कर पड़ेगा।"

"मैं खुली हवा और खुला मार्ग पसन्द करता हूँ।"

लेकिन डेढ़-दो मील पैदल चलने के विचार ही से कवि का उत्साह भंग हो गया। बोले, "मैं मीटिंग के लिए एक परिपत्र छपवाता हूँ, आप मित्रों की एक सूची बना लीजिए। उनको वह भिजवा दीजिएगा। बैठक आप ही के यहाँ होगी। चाय भी आप ही को पिलानी पड़ेगी।"

"हाँ, हाँ, मेरे ही यहाँ रखिए, चाय भी पीजिए !"

और पंडित धर्मदेव वेदालंकार अनारकली के बीचों-बीच पिछले पहिये की खूँटी पर पाँव रख कर फुदकने लगे।

कवि चातक कुछ क्षण तक उन्हें फुदकते हुए देखते रहे, फिर वे घर की

ओर मुड़े। पर कुछ ही कदम चल कर वे फिर रुके और कुछ सोच कर गनपत रोड की ओर को हो लिये।

अपनी कविता का तार उन्होंने पुनः पकड़ लिया।

०

पंडित धर्मदेव वेदालंकार का साथ छोड़ कर पहले कवि चातक ने सोचा था कि घर चलें, पर घर की सुधि आते ही घर का नक्शा उनकी आँखों के सामने घूम गया और अपने उस रूमानी मूड में उन्होंने गोपालनगर चलने का निर्णय किया। कविता गुनगुनाते-गुनगुनाते, गनपत रोड पर से होते हुए वे मोहनलाल रोड के नाके पर आ खड़े हुए और गोपालनगर के लिए तैयार एक ताँगे पर बैठ गये।

कविता की दूसरी पंक्ति उन्होंने सोच ली थी और वे गुनगुना रहे थे :

पर लगता है जैसे तुम हो, युग-युग की मेरी पहचानी।

कि उनका ताँगा मोहनलाल रोड की समाप्ति पर लोअर माल की ओर मुड़ा और उन्होंने देखा कि भाटी की ओर से शुक्ला जी बायें हाथ की हथेली पर चूना और तमाखू रखे, दायें हाथ के अँगूठे से उसे मलते चले आ रहे हैं! कवि ने शुक्ला जी को आवाज़ दी और ताँगे वाले को रुकने के लिए कहा।

शुक्ला जी ने कवि चातक को देखा और ज़ोर से ताली बजाने के अन्दाज़ में बायें हाथ पर पड़ी खैनी को फटका और हाथ को निचले होंट के पास ले जा कर उसे दाँतों की निचली पंक्ति और निचले होंट के मध्य भर लिया—इस प्रकार कि वह भाग ऐसे उभर आया, जैसे वहाँ बर्र ने काट खाया हो। तब दायें हाथ से बायीं बग़ल में दबे काग़ज़ों का पुलिन्दा निकाल और बायें से धोती को सम्हाल कर वे ताँगे पर कवि चातक के साथ आ बैठे और यह सोच कर कि पैदल गोपाल-नगर जाने के कष्ट से बच गये, उन्होंने सन्तोष की एक लम्बी साँस ली और प्रेम से खैनी का आनन्द लेने लगे।

शुक्ला जी पाँच-सवा-पाँच फ़ुट के छरहरे, अधेड़ व्यक्ति थे। 'साप्ताहिक वीर विक्रमादित्य' के सम्पादक थे। शुद्ध खादी का कुर्ता-धोती पहनते थे। सर्दियों में उस पर एक पट्टी की जाकेट अथवा बन्द गले का कोट भी पहन लेते। छोटी-छोटी, होंटों के बराबर कटी मूँछें और अन्दर को कुछ धँसे हुए कल्ले। खैनी खाना और दूसरों की कलंक-कहानियों की चर्चा करना—फिर चाहे वे

कहानियाँ राजनीतिक हों, सामाजिक हों, धार्मिक हों अथवा मात्र वैयक्तिक—उन्हें बड़ा प्रिय था। उनका सबसे बड़ा गुण उनकी मुस्कान थी, जो सदा उनके होंटों पर बनी रहती थी। कोई उनकी प्रशंसा करे अथवा गाली दे, यह मुस्कान उनके होंटों का साथ न छोड़ती थी। बुजुर्गों का कथन है कि गाली सुन कर भी जो व्यक्ति मुस्कराये, उससे डरना चाहिए; लेकिन, देखने में तो वे बड़े निरीह लगते थे। मृदु-भाषी और हँसमुख !

पास में आ कर उनके बैठते ही कवि चातक ने संस्कृति-समाज की बात छेड़ी। खैनी का रस बात करने में बाहर न उछल पड़े, इसलिए मुँह इस तरह ऊँचा करके कि उनकी ठोड़ी बाहर को निकली पड़ती थी, शुक्ला जी दत्तचित्त हो कर श्री चातक की स्कीम को सुनने लगे। बीच-बीच में वे बड़ी प्रसन्नता से 'हूँ, हूँ' अथवा एक-आध शब्द में अपनी सम्मति भी प्रकट करते जाते थे। जब श्री चातक ने कहा कि वे प्रधान-मन्त्री के लिए पंडित धर्मदेव वेदालंकार का नाम उपयुक्त समझते हैं, उनके यहाँ संस्कृति-समाज की बैठकें करने के लिए पर्याप्त स्थान भी है और चाय-पानी की व्यवस्था भी हो सकती है और मन्त्री जगमोहन हो जायगा....तो उनकी बात काट कर उसी प्रकार खैनी का रस बाहर गिरने से बचाते हुए, शुक्ला जी ने पूछा, "कोषाध्यक्ष कौन होगा ?"

कवि चातक ने निमिष-भर के लिए सोचा। यह पद उन्होंने अपने लिए तय कर रखा था, पर अपनी स्कीम को सफल बनाने के लिए इस छोटे लाभ का त्याग करना उचित समझ, उन्होंने कहा, "आपसे अच्छा कोषाध्यक्ष हमें कहाँ मिलेगा, कोषाध्यक्ष आप ही बनिए !"

यह सुन कर शुक्ला जी के होंटों पर बड़ी प्यारी मुस्कान आ गयी। उनका दायाँ नासापुट तनिक काँपा और इस विश्वास के लिए श्री चातक को धन्यवाद देते हुए, अपनी तथा अपने गुट की समस्त सेवाएँ उन्होंने संस्कृति-समाज के लिए सहर्ष प्रस्तुत कर दीं।

शुक्ला जी सदा अपने साथ एक गुट बनाये रखते थे। अर्जुन रोड गोपाल-नगर में जो मकान उनके पास था, उसका मासिक किराया पन्द्रह रुपये था। उसका सर्वोत्तम लाभ उठाने के विचार से उन्होंने ऊपर का चौबारा ओरिएण्टल कॉलेज में पढ़ने वाले एक छात्र को दे रखा था, जिसका पाँच रुपये मासिक किराया वह

उन्हें देता था और कभी-कभी 'वीर विक्रमादित्य' में लेख भी लिखा करता था। मध्य का भाग एक कुटुम्ब के पास था, जिसमें चचा, चची और भतीजा रहते थे। चचा-भतीजे कवि थे—'किसलय' और 'कंटक!' ढाई कमरे उनके पास थे। पाँच रुपये उनका किराया वे देते थे। निचले भाग में एक कमरा और रसोईघर शुक्ला जी ने अपने पास रख छोड़ा था और शेष दो कमरे पाँच-पाँच रुपये मासिक में अपने पत्र के दो उप-सम्पादकों को दे रखे थे। इनमें से एक उनके अपने गाँव का था और वक्त-बेवक्त (जब उनकी पत्नी बीमार होती अथवा पीहर चली जाती, तो) चार रोटियाँ भी सेंक देता।

इस मकान के सब निवासी उनके गुट में शामिल थे। शुक्ला जी इस बात का भरसक प्रयास करते कि उनमें से कोई मकान छोड़ कर न जाय, अर्थात किसी का हाथ इतना तंग न हो कि उनका मकान छोड़ कर उसे किसी धर्मशाला में आश्रय लेना पड़े। एक को ट्यूशन ले कर दे, दूसरे को नौकरी; इसके लिए प्रवेश-शुल्क का प्रबन्ध कर, उसके लिए थोड़े-से ऋण का—इस प्रकार वे सदा अपनी टोली को बनाये रखते थे। इतने पर भी यदि कोई व्यक्ति उनका मकान छोड़ने को विवश होता तो वे तत्काल, बल्कि उसके मकान छोड़ने से पहले ही दूसरा आदमी ले आते। सनातन धर्म प्रतिनिधि-सभा, महाबीर दल, सेवा-समिति, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, राष्ट्रभाषा-प्रचारक-संघ और ऐसी ही दूसरी संस्थाओं से अपना सम्पर्क बनाये रखते ताकि उनकी टोली के किसी आदमी को आवश्यकता हो तो उसे कहीं-न-कहीं लगा दें और यदि उतने पर भी आवश्यकता पड़ जाय तो अपनी टोली के रिक्त-स्थान की पूर्ति भी कर सकें।

चन्द रुपयों के लिए कोई इतने पापड़ बेल सकता है, शायद यह बात कुछ लोगों को अत्युक्ति-पूर्ण लगे, पर निम्न-मध्यवर्ग में, जहाँ वेतन की दर चालीस से सत्तर रुपये के बीच थी (और आज की मँहगाई में भी सौ-डेढ़-सौ से आगे नहीं बढ़ी) जीवन का साथ निबाहने के लिए लोग जो पापड़ बेलने को विवश हैं, यदि उसका ब्योरा दिया जाय तो ऐसी बातें प्रकाश में आयें, जिन्हें पढ़ना अथवा सुनना भी लोगों को स्वीकार न हो। फिर जहाँ तक शुक्ला जी का प्रश्न है, सवाल चन्द रुपयों का न था। इस टोली को बनाये रखने से न केवल उन्हें मुफ़्त रहने को मिलता, कुछ रुपये से लाभ रहता और उनके घर में आश्रय पाने वाला एकाध

शरणार्थी रोटी पकाने से सफ़ाई करने तक उनके सभी काम कर देता, बल्कि इस टोली द्वारा उन्हें कुछ-न-कुछ शक्ति भी प्राप्त थी। वे अपनी इस टोली को प्रत्येक संस्था में ले जाते और इसके द्वारा उन्हें अपनी बात मनवाने में काफ़ी सुविधा रहती।

अपने उस किराये के मकान का नाम उन्होंने 'शुक्ल-साहित्य-सदन' रख छोड़ा था! साहित्य से उस मकान का कितना नाता था, यह प्रश्न विवादग्रस्त भी हो सकता है, परन्तु यह नाम रखने के लिए उनके मकान में डेढ़-एक कवि का होना ही पर्याप्त था।

०

गोपालनगर आ गया था। श्री चातक अपनी स्कीम बता चुके थे। पदाधिकारियों का भी चुनाव हो गया था। अन्त में कवि ने बताया कि उस समय तक संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली कोई संस्था पनप नहीं सकती, जब तक महिलाएँ उसमें भाग न लें और संस्कृति-समाज के लिए एक महिला-मन्त्री का होना परम आवश्यक है।

तब शुक्ला जी ने झट कहा कि आप 'विनोदनी जी' (शुक्ला जी के मकान में रहने वाले कवि विनोद जी 'किसलय' की पत्नी) को रख लीजिए। उनके....

लेकिन चातक जी ने तत्काल उनकी बात काट कर कहा, "यदि संस्कृति-समाज को सफलता से चलाना हो तो उसके लिए किसी अधेड़-स्त्री के बदले ऐसी युवा लड़की को रखना पड़ेगा, जो भाग-दौड़ कर सके और समाज को महिलाओं में प्रिय बना सके।"

और उन्होंने बताया कि उनकी एक परिचिता हैं, बहुत अच्छी लेखिका और कवियत्री हैं, वे उनसे कहेंगे, आ जायँ तो संस्था का बेड़ा पार हो जाय।

शुक्ला जी उन कवियत्री का नाम पूछने वाले थे, पर तभी अर्जुन स्ट्रीट आ गयी और शुक्ला जी ने ताँगे वाले से रुकने को कहा। ताँगे से उतरते हुए उन्होंने कवि चातक से कुछ क्षण चल कर शुक्ल-साहित्य-सदन को पवित्र करने की प्रार्थना की। चातक जी ने उत्तर दिया कि वे ज़रा आगे जा रहे हैं, वापसी पर रुकेंगे।

ताँगा चल पड़ा और शुक्ला जी दूर चले गये तो श्री चातक ने ताँगे वाले को 'शान्ता-विद्यालय' भीष्म पितामह रोड चलने के लिए कहा।

०

'शान्ता-विद्यालय' पीले रंग की दोमंज़िली इमारत में था। पहली कक्षा से ले कर मिडल तक लड़कियाँ उसमें पढ़ती थीं, पर यह कोई महत्व की बात नहीं और न इसका मान शान्ता बहन को था। महत्व की बात यह थी कि विद्यालय में 'रत्न', भूषण' और 'प्रभाकर' की कक्षाएँ भी थीं और 'रत्न' पास लड़कियों को अंग्रेज़ी में मैट्रिक कराने का भी प्रबन्ध था और इस बात की पूरी आशा थी कि कुछ ही वर्षों में विद्यालय 'भूषण' पास लड़कियों को अंग्रेज़ी में एफ़० ए० और 'प्रभाकर' पास छात्राओं को अंग्रेज़ी में बी० ए० करा दिया करेगा।

सरसरी नज़र से देखने पर (विशेषकर पंजाब के बाहर वाले लोगों को) इसमें कोई महत्व की बात दिखायी न देगी, पर उस समय जब निम्न-मध्यवर्गीय समाज में लड़कियों की शिक्षा का उद्देश्य केवल विवाह की मण्डी में उनका मूल्य बढ़ाना हो, शिक्षा का यह ढंग महत्व प्राप्त कर लेता है। साधारणतः जो लड़की पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में मैट्रिक करती, वह इस ढंग से उस उम्र तक बी० ए० (केवल अंग्रेज़ी में) कर लेती। साधारण लड़कियाँ चौथी अथवा पाँचवीं के बाद (और कई बार साथ ही) 'रत्न' पास कर लेतीं, फिर केवल दो वर्ष में अंग्रेज़ी में मैट्रिक कर लेतीं। जो माता-पिता अपनी लड़कियों को बी० ए० देखने के इच्छुक होते, वे उन्हें साथ-साथ 'भूषण' और 'प्रभाकर' करा देते। कॉलेज में पढ़ी बी० ए० पास लड़कियों से क्योंकि साधारण मध्य-वर्गीय युवक डरता, इसलिए घर में अथवा प्राइवेट विद्यालयों में पढ़ी लड़कियों की माँग अधिक रहती। शान्ता बहन ने गोपालनगर में विद्यालय खोल कर गोपालनगर वालों पर बड़ा एहसान किया था और इस बात का उन्हें गर्व था।

श्रीमती शान्ता भगतराम सहगल—जिन्हें लोग शान्ता बहन और कवि चातक बेतकल्लुफ़ी से 'शान्ता जी' अथवा केवल 'शान्ता' कह कर पुकारते थे—साधारणतः सन्ध्या के समय ऊपर की मंज़िल में होती थीं। निचली मंज़िल में क्लासें लगती थीं और ऊपर की मंज़िल में वे अपने पति श्री भगतराम सहगल और बच्चों के साथ रहती थीं। ताँगे से उतर कर कवि ने देखा कि सामने के कमरे में कोई क्लास लगी हुई है। सोचा शान्ता जी अपने कमरे में होंगी। झट बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ कर प्रिंसिपल के कमरे की ओर बढ़े, लेकिन कमरा बन्द

था । 'माई' से मालूम हुआ कि 'बहन जी' ऊपर हैं । विवश हो कवि वापस फिरे और बराबर की गली में से हो कर मकान के पिछवाड़े सीढ़ियों में पहुँचे । सीढ़ी चढ़ते हुए मन-ही-मन उन्होंने सोचा कि शान्ता मिल जाय, कहीं इतनी दूर आना विफल न हो !

उनका आना विफल नहीं हुआ । सीढ़ियों ही से उन्हें एक बच्चे के रोने और शान्ता बहन के चीखने की आवाज़ सुनायी दी और जब वे सीढ़ियाँ चढ़ गये तो आँगन का दृश्य देख कर कुछ क्षण स्तम्भित-से वहीं चौखट में खड़े रहे । सामने शान्ता विद्यालय की विदुषी प्रिंसिपल श्रीमती शान्ता देवी 'प्रभाकर,' 'साहित्यरत्न' अपने काले-कलूटे बच्चे को गर्दन से पकड़े धड़ाधड़ पीट रही थीं, ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रही थीं; और बच्चा उनसे भी ऊँची आवाज़ में चिंघाड़ रहा था । शान्ता बहन शायद बर्तन मलते-मलते बच्चे को पीटने आ गयी थीं, क्योंकि राख से लिथड़े हुए उन के हाथ बच्चे के मुँह और शरीर पर जहाँ-जहाँ पड़े थे, पाँचों उँगलियों के कीचड़-सने निशान बन गये थे ।

कवि चातक के सौन्दर्य-प्रिय कवि-हृदय को यह सब देख कर प्रबल आघात लगा । वे उलटे पाँव लौट जाते, पर तभी शान्ता बहन की दृष्टि उन पर जा पड़ी और अपनी आकृति को यथा-सम्भव मृदुल बना, बरबस खींच-खाँच कर एक मुस्कान होंटों पर ला कर, लिथड़े हुए हाथ मस्तक तक ले जाने का उपक्रम-सा करते हुए, उन्होंने कवि का अभिवादन किया और कहा कि वे अन्दर जा कर 'उन' के पास बैठें, वे दो-तीन बर्तन मल कर आती हैं ।

शान्ता जी मँझले कद की अट्ठाइस-एक वर्ष की महिला थीं, परन्तु अट्ठाइस के बदले वे अड़तीस वर्ष की लगती थीं । यौवन के उन गुलाबी जाड़ों के-से मधुर-मदिर दिनों में, जिनका सम्बन्ध पन्द्रह से अठारह वर्ष तक की वयस से है (क्योंकि कहने को तो अट्ठाइस वर्ष की स्त्री भी युवती कहलाती है) जब हर लड़की सुन्दर लगती है और उसके भोलेपन को संसार की लम्पटता का ज्ञान नहीं होता, एक युवक ने शान्ता जी को धोखा दिया था । फलस्वरूप उनके पिता ने उनकी पढ़ाई छुड़वा, सप्ताह भर में उनका विवाह कर दिया था और कुमारी शान्ता तुल्ली से श्रीमती शान्ता भगतराम सहगल बन कर वे गोपालनगर के एक लकड़ी के टाल की स्वामिनी बन गयी थीं ।

लेकिन शान्ता जी को श्री भगतराम, उनका घर, उनका लकड़ी और कोयले का टाल, 'कोयलों की दलाली में हाथ और मुँह काला'—सब अखरता था। उनका पति युवक था। वंश में कदाचित कुछ दाग़ होने से अथवा माता-पिता की छाया सिर से उठ जाने के कारण वह उस समय तक कुँवारा बना हुआ था। यों खूब हृष्ठ-पुष्ट था। चौड़ा-चकला वक्ष, खुले अंग, बलिष्ठ हाथ-पैर, पर न जाने क्यों, उसकी संगति में शान्ता जी को बड़ा मानसिक कष्ट होता। उसके ऊपर की दन्त-पंक्ति में दोनों ओर दो परदाँत थे और उनमें प्रतिदिन दातुन करने पर भी पीला-पीला-सा कुछ फँसा रहता था। फिर यद्यपि उसने अपनी पत्नी के अनुरोध पर टाल से आ कर नहाना और कपड़े बदलना आरम्भ कर दिया था, पर न जाने क्यों, शान्ता जी को उससे बराबर लकड़ियों और कोयलों की गन्ध आती थी। और फिर टाल वाले की पत्नी कहलाना भी उनके अहम् को स्वीकार न था। फल यह हुआ कि उन्होंने पढ़ाई का तार जहाँ से छोड़ा था, वहीं से फिर पकड़ लिया।

वे हिन्दी-रत्न की परीक्षा अपने विवाह से पहले दे चुकी थीं। उनका पहला बच्चा अभी चन्द महीने का था कि उन्होंने हिन्दी-भूषण की पढ़ाई आरम्भ कर दी। घर का सब काम करना, बच्चे की देख-भाल करना, और पढ़ना—ये सब काम वे साथ-साथ करती रहीं।

शान्ता जी ने 'भूषण' के बाद 'प्रभाकर' और 'प्रभाकर' के बाद 'साहित्य-रत्न' किया। उनके दो और लड़के हुए। अपने पति का टाल बिकवा कर उन्होंने 'शान्ता-विद्यालय' की नींव डाली और उनका पति 'टाल वाला' कहलाने के बदले 'विद्यालय वाला' कहलाने लगा। लेकिन विद्यालय से इतनी आय न थी कि प्रत्येक बच्चे के लिए एक-एक आया रखी जाय। इतने बड़े मकान का किराया, उसमें काम करने वाले अध्यापक-अध्यापिकाओं के वेतन आदि को निकाल कर कठिनाई से घर के खर्च भर को पैसे बचते। इसलिए जब घर में नौकर न होता या महरी बीमार पड़ जाती, शान्ता जी को स्वयं सब काम करना पड़ता और इस व्यस्तता में उन्हें जो खीझ होती, उसका फल उन बच्चों को भुगतना पड़ता। उनका पति जब उन्हें इस प्रकार खीझते-झल्लाते देखता तो सदा ताना देता कि यदि वह उनके अनवरत अनुरोध से इस 'पचड़े' में न पड़ता तो उस समय तक गोपालनगर में

चार लकड़ी के टाल उसके होते और वह चार मकान ख़रीद लेता। न उसे इस तरह भाग-दौड़ करनी पड़ती, न उनको यों क्लर्कों की भाँति खटना पड़ता। चार नौकर वह घर में रख देता और वे रानी बनी बैठतीं।

शान्ता जी प्रसन्न होतीं तो सदैव उस समय का चित्र खींचतीं, जब उनके विद्यालय में मिडल की पढ़ाई के बदले बी० ए० तक की शिक्षा होगी और वे 'शान्ता विद्यालय' का स्तर 'लाहौर कॉलेज फ़ॉर विमेन' जितना ऊँचा कर देंगी, और उनकी आय पचास गुना बढ़ जायगी और....और जब वे झल्लायी हुई होतीं तो चुप रहतीं, पर अपने इस या उस बच्चे को दो-चार थप्पड़ रसीद करके पति के तानों का उत्तर दे देतीं।

o

शान्ता जी के पति श्री भगतराम उस समय ख़ासे झल्लाये हुए बैठे थे। प्रकट था कि कुछ ही क्षण पहले पति-पत्नी में 'विचार-विनिमय' हो चुका है, जिसके फल-स्वरूप एक बच्चा उनके हाथ से प्रसाद भी पा चुका है। परन्तु जब शान्ता जी के कहने पर कवि चातक ने अन्दर प्रवेश किया तो श्री भगतराम ने खीसें निपोर दीं, जिससे उनके परदाँत पूर्णरूप से शोभायमान हो उठे।

"आइए, आइए!" उन्होंने 'हिं-हिं'....'हिं-हिं' करते हुए कहा, 'आपके तो दर्शन ही दुर्लभ हो गये।" और पुनः 'हिं-हिं' करते हुए उन्होंने अपना हाथ चातक जी के हाथ पर (मिलाने के अन्दाज़ में) ज़ोर से मारा।

यदि कवि समय पर अपना हाथ न खींच लेते तो रात भर उनको नमक और हल्दी का सेंक देना पड़ता। उनके हाथ की दो उँगलियाँ ही श्री भगतराम के हाथ को छू पायीं, पर इतने ही से उनकी पोरें दुखने लगीं।

क्षण भर अपनी उँगलियों की पोरों को मलते हुए, बिना कुर्सी पर बैठे, कवि ने पूछा, "कहिए विद्यालय की कैसी गति-विधि है? एफ़० ए०, बी० ए० की क्लासें आरम्भ की हैं या नहीं? सुनते हैं गोपालनगर में कोई दूसरा भी विद्यालय खुल गया है।"

"विद्यालय!" भगतराम ने बेतुका ठहाका मारा, "विद्याली कहिए, विद्याली! बन्दा बैरागी स्ट्रीट में एक छोटा-सा कमरा है, जिसमें यह विद्यालय लगता है। दो घण्टे सुबह और दो घण्टे शाम।

"किसने खोला ?"

"अरे वह एक लड़की है सत्या। हमारे ही विद्यालय से उसने प्रभाकर पास किया है। जो लड़कियाँ हमने अपने विद्यालय में नहीं लीं, उन्हीं को पढ़ा रही है। चार तो मैंने तोड़ ली हैं, बाकी भी दस-बीस दिनों में आ जायँगी।"

और इस ब्योरे के विरोधाभास को जाने बिना अपनी प्रसन्नता में श्री भगत-राम ने परदाँत दिखा दिये।

"बन्दा बैरागी स्ट्रीट कहाँ है ?" चलने को उद्यत होते हुए कवि ने लापर-वाही से पूछा।

"अजी वहीं, जहाँ गवर्नमेंट कॉलेज के प्रोफ़ेसर श्री जटाशंकर का घर है।" और वही निरर्थक 'हिं....हिं।'

"अच्छा तो चल दिये !" कवि ने दोनों हाथ मस्तक पर ले जाते हुए कहा। उनको अब क्षण-भर भी वहाँ ठहरना दुष्कर लग रहा था।

तभी शान्ता जी हाथ-वाथ धो कर, शायद मुँह पर भी हाथ फेर कर कमरे में आयीं।

"बैठिए, बैठिए, चल क्यों दिये ?" शान्ता जी ने आते-आते कहा।

"फिर हाज़िर हूँगा।"

और नमस्कार कर कवि चातक सीढ़ियाँ उतर गये। नीचे खुले में पहुँच कर उन्होंने सुख की एक बहुत लम्बी साँस ली।

०

शुक्ल-पक्ष का चाँद साँझ ही से आकाश में खिल आया था। वसन्त के आरम्भ की साँझ थी। सोने में जैसे सुगन्ध। अनायास ही वायु का परस रोमावलि को पुलकित कर रहा था। 'शान्ता विद्यालय' से निकल कर कवि चातक पैदल ही घर की ओर चल दिये। मेनरोड पर मोरी दरवाज़े की ओर जाते हुए, एक ताँगे वाले ने हाँक लगायी, पर कवि ने उधर ध्यान न दिया। मौन रूप से चलते हुए वे लोअर-माल तक आ गये। चाँदनी में भीगी सड़क और उसके पेड़-पौधों को निखरते रहे और जब उनके मन की वह ग्लानि पूर्णतः धुल गयी, जिसने शान्ता-विद्यालय में उन्हें जकड़ लिया था तो वे मस्ती से झूमते हुए चल पड़े। अनायास ही, किसी एकाकी भौंरे की गुंजार-सा उनका स्वर साँझ के सन्नाटे में लहरा उठा :

चित्र तुम्हारा देखा सुन्दर....

उन्हें मालूम भी न हुआ कि कब वे गोपालनगर से पैदल चलते हुए अमृतधारा फ़ार्मेसी के निकट अपने मकान के पास पहुँच गये। तंग ज़ीना चढ़ते और गुनगुनाते हुए जब वे ऊपर पहुँचे तो उनके कानों में उनकी संगिनी का कर्कश और सानुनासिक स्वर पहुँचा—"किंस मँरें कें यँहाँ चँलें गँयें थें जों इँतनी देंर में लौंटे। खाँनाँ कँब काँ पँड़ाँ ठंडाँ हों रँहाँ हैं।"

कवि चातक की सारी मस्ती भंग हो गयी और उनकी कविता सहसा उन के मस्तिष्क से उड़ कर विस्मृति के गर्त में जा छिपी।

उस पुराने मकान के उस हिस्से में, जो कवि चातक के पास था, चार कमरे थे—मैले, गन्दे और जैसे वर्षों से सफ़ेदी को तरसे हुए! पुस्तकों से ले कर खिलौनों तक, न जाने वे किस-किस चीज़ से ऐसे अटे पड़े थे कि उन चीज़ों के बाहुल्य, अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता में उनका विस्तार खो गया था और वे कोठरियों-ऐसे दिखायी देते थे। एक ओर कवि चातक की पाँच वर्ष की दूध-सी गोरी लड़की, कीचड़-सा मैला एक फ़ॉक पहने, अधनंगी बैठी थी। कमरे के बीचों-बीच उनका ढाई वर्ष का काला-कलूटा बच्चा (जो प्रकट ही माँ पर था।) चौड़ा मुख मोटे-मोटे होंट और गदबदे नितम्ब लिये बैठा हुआ एक फटी पुस्तक से खेल रहा था। पुस्तक उसके पिता की कविताओं का नवीन संग्रह था और वह अभी से उसका परिचय पा लेना चाहता था। नाक उसकी निरन्तर बह रही थी और वह बार-बार उसे सुड़क रहा था। एक ओर फ़र्श पर कवि का एक साल का बच्चा पड़ा रिरिया रहा था।

कवि चातक का सौन्दर्य-प्रिय मन इस समस्त अपरूपता को देख कर अपार ग्लानि से भर उठा। अपनी पत्नी की किसी बात का उत्तर दिये बिना उन्होंने उससे खाना परसने को कहा और भोजन की थाली और पानी का गिलास ले कर ऊपर चौबारे की ओर भागे—जहाँ अव्यवस्था चाहे हो; पर वह अपरूपता न थी। बाहर छत पर दूधिया चाँदनी खिली हुई थी, जिसकी किरणें चौबारे में उजेला भर रही थीं। वहाँ पत्नी की कुरूपता और कर्कशता से दूर वे बड़े मज़े से कल्पना कर सकते थे, सपनों के संसार बसा कर उनमें विचर सकते थे, गुनगुना सकते थे, गा सकते थे।

घाम में तपता व्यक्ति जैसे छाया की ओर लपकता है, वैसे ही कवि चातक छत की ओर लपके। चौबारे में प्रवेश करते ही उन्होंने देखा—चारपाई पर औंधा लेटा जगमोहन कोई पुस्तक पढ़ रहा है। उन्हें आते देख कर वह उठा। बोला, "कहाँ गये थे आप? मैं दो घण्टे से आप की राह देख रहा हूँ। भाभी बहुत नाराज़ हो रही थीं।"

कवि चातक ने उसकी बात का उत्तर नहीं दिया। बोले, "मैं आज साँझ ही से तुम्हारी बात सोच रहा था। मैंने तुमसे एक बार जिस संस्कृति-समाज का ज़िक्र किया था, अब उसे मूर्त-रूप देने का समय आ गया है। आज मैंने सारी योजना बना ली है। तुम्हें उसका सहायक-मंत्री बनना होगा।"

"लेकिन मैं...."

"तुम्हें यहाँ के साहित्य-जगत में अपना स्थान बनाना है और इससे अच्छा अवसर तुम्हें फिर कभी न मिलेगा।"

"पर साहित्य-जगत में मुझे जानता ही कौन है?"

"जो नहीं जानता, अब जान जायगा!" कवि चातक ने कहा, "तुम में प्रतिभा है, उत्साह है, आकांक्षा और लगन है। संस्कृति-समाज इन सब के लिए उपयुक्त क्षेत्र रहेगा। मैं यहाँ के हिन्दी साहित्यिकों को तुम्हारा परिचय दूँगा और चन्द दिनों में सभी तुम्हें जान जायेंगे।"

और उन्होंने जगमोहन को सारा ब्योरा दिया। अन्त में उन्होंने कहा, "फिर समाज एकांगी न होगा, महिलाओं का पूरा सहयोग उसे प्राप्त होगा। हमारा सामाजिक जीवन जितना संकीर्ण और कुण्ठित है, इसका कारण वे झूठी वर्जनाएँ हैं, जो यहाँ स्त्री-पुरुष के मध्य खड़ी हैं। हमें उनको ढाना होगा। तभी हमारे देश की नारी अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर, अपनी शक्ति देश के उद्धार हेतु लगा सकेगी और सच्चे अर्थों में हमारी संस्कृति का पुनरुत्थान होगा।"

कवि चातक महिलाओं द्वारा देश की संस्कृति के पुनरुत्थान की बात अभी इतनी ही कह पाये थे कि नीचे से उनकी पत्नी नकनकायीं :

"खाँनाँ खाँ लियाँ हों तों बँर्तन दें जाँओं। बँहँस फिर कँर लेंना।"

चौंक कर कवि ने एक बड़ा-सा कौर मुँह में भर लिया। कुछ क्षण वे चुप-

चाप भोजन करते रहे, फिर बोले, "मैंने फ़ैसला किया है कि हमारे संस्कृति-समाज में महिलाएँ बराबर का भाग लेंगी। एक पुरुष-मन्त्री के साथ एक महिला-मन्त्री भी होगी। मैं चाहता हूँ कि महिला-मन्त्री का भार किसी ऐसी स्त्री को दिया जाय, जो स्वयं भी लेखिका हो। 'मालती' में आज मैंने कुमारी सत्या सलूजा की कहानी देखी है। लड़की में प्रतिभा की चिनगारी और सेवा की लगन है। मैंने उसका पता लगा लिया है। संस्कृति-समाज के निमन्त्रण-पत्र छप जायँ तो उनके यहाँ तुम जाना। यदि कुमारी सत्या महिला-मन्त्री का भार अपने कन्धों पर ले लें तो हमारा संस्कृति-समाज महिलाओं में भी लोकप्रिय हो जायगा।"

कवि चातक संस्कृति-समाज के भविष्य में इतना उलझ गये कि खाना भूल गये। वे अभी यहाँ तक ही पहुँचे थे कि सीढ़ियों पर उनकी पत्नी की सानुनासिक फटकार सुनायी दी, "किंस मँरें सँमाँज कें चँक्कँर में पँड़ें हों। खाँनाँ खँतँम कँरों कि मैं बँर्तन मँलूँ। बँच्चें सोंनें कों चिल्लाँ रँहें हैं।"

अपना भाषण एकदम बन्द कर, श्री चातक ने फिर एक बड़ा-सा कौर मुँह में रखा और चुप हो, जल्दी-जल्दी खाना खाने लगे। वे अभी मुश्किल से भोजन समाप्त कर पाये थे कि उनकी पत्नी दनदनाती ऊपर आ पहुँची। यद्यपि कवि को एक-आध रोटी और खानी थी, पर उन्होंने उसका मोह छोड़, थाली उसकी ओर बढ़ा दी। दो घूँट पानी पी कर कुल्ले के लिए मुँह में भर लिया और गिलास थाली पर टिका दिया।

दो

संस्कृति-समाज के निमन्त्रण-पत्र बाँटता-बाँटता जगमोहन जब गोपालनगर पहुँचा तो साढ़े दस बजने वाले थे। 'शुक्ल-साहित्य-सदन' पहुँच कर बाहर ही से उसने पूछा, "चातक जी आये हैं?"

अन्दर से शुक्ला जी ने कदाचित खैनी का रस पपोलते हुए उत्तर दिया कि अभी नहीं आये। कल्पना ही में जगमोहन ने उनकी ठोड़ी को आगे उभरे और निचले होंट को खैनी के रस से भरे देखा!

"आयें तो उन्हें रोकिएगा," उसने कहा, "मैं इतने में दो-एक जगह और हो आता हूँ।"

और वह मुड़ा। तभी सामने से कवि चातक आते दिखायी दिये।

वे अपने नाटे-से कद पर दूध-सी सफ़ेद खादी का कुर्ता-धोती पहने थे। कुर्ते पर उन्होंने रेशमी चादर ओढ़ रखी थी। पाँवों में नये चप्पल थे। दाढ़ी उन्होंने सयत्न साफ़ की थी और बाल बड़े ढंग से सँवार रखे थे।

"मैं तो जा रहा था," जगमोहन ने कहा, "दूसरे सब निमन्त्रण-पत्र तो बाँट आया हूँ, केवल गोपालनगर के रह गये हैं। सोचा विद्यालय बन्द न हो जाय, इसलिए पहले इधर आया।"

"ठीक ही किया," कवि चातक आत्म-तुष्टि से मुस्कराये, "मुझे कपड़े बदलते ज़रा देर हो गयी। चलो सत्या जी की ओर हो आते हैं, फिर तुम शेष निमन्त्रण-पत्र बाँट आना।"

चौड़ी-चौड़ी गलियों में से होते हुए दोनों 'बन्दा बैरागी स्ट्रीट' में पहुँचे! जब आधी गली समाप्त हो गयी और कहीं 'सत्या विद्यालय' का बोर्ड दिखायी न दिया तो कवि चातक ने जगमोहन से कहा, "तुम ज़रा किसी से पूछ देखो!"

जगमोहन ने सामने से आते हुए एक व्यक्ति से पूछा। मालूम हुआ कि आगे है। दोनों फिर चल पड़े, लेकिन पूरी गली का चक्कर लगा डालने पर भी कहीं 'सत्या विद्यालय' का बोर्ड दिखायी न दिया।

दोनों फिर मुड़े। गली में बाँयीं ओर को एक और छोटी-सी बन्द गली थी, जिसमें दो गायें और एक भैंस बँधी थी और पास ही एक बुढ़िया बैठी चर्खा कात रही थी। गली के सिरे पर एक कमरा था, जिसकी खिड़कियाँ बन्दा बैरागी स्ट्रीट में थीं और दरवाज़ा बन्द गली में!....जगमोहन ने कहा, "इसमें कुछ लड़कियाँ पढ़ रही हैं, शायद यही सत्या विद्यालय है।"

उसने यह बात कुछ इतने ऊँचे स्वर में कही कि बुढ़िया ने कदाचित सुन लिया। चर्खा चलाते-चलाते कुछ ऐसी टेढ़ी दृष्टि से उसने उन की ओर देखा, जैसे उसकी आँख बचते ही वे उसके सूत की टोकरी उठा ले जायँगे।

जगमोहन ने आगे बढ़ कर पंजाबी भाषा में उस बुढ़िया से पूछा, "क्यों दादी सत्या विद्यालय कित्थे ऐ?"

"की जान्नाँ?" बुढ़िया ने कहा, "इह इक कुड़ियाँ दा स्कूल ऐ। पर तूँ की

लैणाँ ऐ कुड़ियाँ दे स्कूल तों ?"[१]

"ज़रा प्रिंसिपल नू मिलना ए ?"

"भरिंसीपल ?"

पर जगमोहन ने बुढ़िया के साथ माथा-पच्ची करना व्यर्थ समझ, भैंस की दुम से दामन बचाते हुए, आगे बढ़ कर, कमरे के अन्दर बैठी हुई एक लड़की से पूछा, "क्यों भैण सत्या विद्यालय एही ए ?"

"जी !"

"ज़रा सत्या जी से मिलना है ।"

तब वह लड़की उठ कर कमरे में कुछ परे खड़ी एक और लड़की को बुला लायी । उस लड़की ने छपी हुई खादी की मोटी साड़ी पहन रखी थी । उसके आँचल को अपने सिर के गिर्द और भी अच्छी तरह लपेटते हुए, माथे पर कई तेवर डाले, वह कमरे की सीढ़ी उतर आयी और उसने पूछा ।

"कहिए !"

"जी मैं सत्या जी से मिलना चाहता हूँ ।"

"कहिए !"

उसका स्वर इतना रूखा था और वह 'कहिए' उसने कुछ इस प्रकार उसकी ओर फेंका कि जगमोहन को लगा, जैसे उसने तेज़ छुरा उठा कर उसकी ओर फेंक दिया हो । लड़की की आँखें फ़र्श पर गड़ी थीं और साड़ी में लिपटे हुए उसके मुख पर केवल मस्तक के तेवर ही उसे दिखायी दे रहे थे । वह बुढ़िया चर्ख़ा कातना छोड़ कर उसे बेतरह घूर रही थी और भैंस उन ज़िद्दी मक्खियों को अपने पुट्ठे पर से हटाने के लिए बार-बार दुम घुमाने की धमकी दे रही थी । जगमोहन ने संक्षिप्त शब्दों में संस्कृति-समाज के संस्थापन की बात कही । बताया कि कल शाम साढ़े चार बजे शीशमहल रोड पर श्री धर्मदेव वेदालंकार के यहाँ उसकी प्रथम अनौपचारिक बैठक होगी; कि श्रीमती शान्ता जी—प्रिंसिपल शान्ता विद्यालय—भी पधारने की कृपा कर रही हैं; कि कवि चातक ने सत्या जी से

---

१ क्या मालूम, यह एक लड़कियों का स्कूल है, पर तुझे क्या लेना है लड़कियों के स्कूल से ?

पधारने का विशेष अनुरोध किया है; कि वे स्वयं भी आये हैं....यहाँ निमिष-भर को रुक कर जगमोहन ने चातक जी की ओर संकेत किया। पर जब लडकी ने उस ओर दृष्टि उठा कर भी न देखा तो उसने निमन्त्रण-पत्र उसके हाथ में देते हुए इतना और कहा कि इस निमन्त्रण-पत्र में समाज के उद्देश्यों का सविस्तार ब्योरा है।

"जी बहुत अच्छा!" लड़की ने निमन्त्रण-पत्र ले कर वैसे ही फ़र्श पर दृष्टि जमाये हुए कहा।

अब जगमोहन क्या कहे! नमस्कार करने का उपक्रम-सा करता हुआ वह लौटा। तभी भैंस ने दुम घुमा कर अपने पुट्ठे पर मारी। जगमोहन उछल कर दूर न जा खड़ा होता तो उसके कान से कण्ठ तक भैंस सहर्ष उस भेंट की स्मृति का चिह्न अंकित कर देती।

कवि चातक इस प्रतीक्षा में खड़े थे कि अभी उन्हें बुलाया जायगा। जगमोहन के संकेत की बाट वे बड़ी व्यग्रता से जोह रहे थे। बार-बार बालों पर हाथ फेर रहे थे और होंटों के कोने पर उभर आने वाली लाली को रूमाल से पोंछ रहे थे। उसे उछल कर लौटते देख, उन्होंने बेसब्री से पूछा, "क्यों भेंट हुई?"

"एक लड़की दरवाज़े तक आयी," जगमोहन ने बेज़ारी से कहा, "जाने वह सत्या है या कोई और। मैंने उसे सब कुछ समझा दिया है। समझ कर उसने 'जी बहुत अच्छा' भी कहा है। अब आना-न-आना उसकी इच्छा पर है।"

"तुमने हमारा नाम नहीं लिया?"

"लिया था।"

"फिर?"

"उसने कोई उत्तर नहीं दिया।"

यह लड़की सत्या नहीं हो सकती, कवि ने मन-ही-मन सोचा। अवश्य ही यह कोई अध्यापिका होगी। फिर वे जगमोहन से बोले, "तुम को पक्का पता करके केवल सत्या जी से बात करनी थी। ख़ैर आओ, मैं अभी शान्ता के यहाँ जाता हूँ। उससे कहूँगा कि वह अपने साथ सत्या जी को भी लेती आये। शान्ता वाला निमन्त्रण-पत्र तुम मुझे दे दो। शेष सब शीघ्रातिशीघ्र बाँट कर घर जाओ। मुझे खाने के समय पहुँचने में देर हो जाय तो अपनी भाभी को समझा देना।"

०

जगमोहन निमन्त्रण-पत्र बाँटता हुआ चातक जी के घर पहुँचा तो एक बजा था।

"बँड़ीं देंर कँर दीं ?" भाभी ने उसे आते देख कर कहा।

जगमोहन ने लिफ़ाफ़े एक ताक में रखे, पानी का गिलास ले कर मुँह पर छींटे मारे; बताया कि सारे लाहौर में लिफ़ाफ़े बाँटता फिरा है, थक भी गया है, पर भाभी की असुविधा के ख़याल से चला आया है।

"काँहें धूँप में इँतना हैंराँन होंतें हों," भाभी ने स्नेह से कहा, थाली परोस कर उसके आगे रख दी और पूछा, "वें नँहीं आँयें ?"

"गोपालनगर में थे, संस्कृति-समाज के काम में लगे हुए हैं। शायद उन्हें आने में कुछ देर हो जाय।"

"कोंई-नँ-कोंईं मरीं सँभा-सोंसाँइँटी इँनकें पींछें लँगीं हीं रँहँतीं हैं।" भाभी ने खीझ कर कहा, "खाँनाँ बँखत पँर खाँयँ लें, फिंर मेंरीं ओंर सें चाँहें जहाँ जाँयँ !"

जगमोहन ने कौर मुँह में रखते हुए भाभी की ओर देखा—लम्बा क़द, सीधा-सादा, रेखा-विहीन चतुर्भुजाकार-सा शरीर; चौड़ा-सा मुख; मोटे-मोटे होंट, रूखे बाल और सानुनासिक स्वर—भाभी सुन्दर न थीं, चातक जी से उनका कोई मेल भी न था, पर अपनी समस्त कर्कशता, सानुनासिकता, अपरूपता के होते हुए भी जगमोहन को वे अच्छी लगती थीं और वह उनका बड़ा आदर करता था।

कवि चातक को मित्रों की आव-भगत करने का, उनको खिलाने-पिलाने का बड़ा शौक था। 'मंजरी' के सम्पादक थे तो उन्होंने एक छोटी-सी रकम इस खाते में भी लगा रखी थी। साहित्यिकों को चाय पिला कर, चाय के साथ गर्मा-गर्म पकौड़े अथवा चाट खिला कर वे उनसे लेख लिया करते थे। 'मंजरी' बन्द हो गयी तो पत्नी के गहने बेच और अपने साले से साढ़े-छः हज़ार रुपया कर्ज़ ले कर उन्होंने एक प्रेस लगा लिया। काफ़ी दिन तक प्रेस के खाते में मित्रों की आवभगत करते रहे। लेकिन प्रेस चलाना उनके बस का रोग न था। उसमें घाटा पड़ गया। हाल भी पतला हो गया, पर मित्रों को तो चाट पड़ गयी थी, इसलिए न्यूनाधिक मात्रा में वह प्रथा चली आ रही थी। भाभी को चातक जी के ये मित्र फूटी आँख न भाते। 'मँरें खाँनें के लिंएँ आँते हैं।' पकौड़े हों अथवा

पूरियाँ, भाभी पकाती भी जातीं और कोसती भी जातीं। लेकिन जगमोहन को खिलाते समय, उसके लिए खाना तैयार करते समय, भाभी को तनिक भी असुविधा न होती और वक्त पर खाना न खाने के लिए उसे स्नेह-भरे उलाहने देती हुई, वे सदा खाना गर्म कर देतीं।

जगमोहन को भी भाभी में वे सब गुण दिखायी देते, जो उसकी अपनी भाभी में न थे। उसके भाई लाहौर ही में बीमा-एजेण्ट थे। ऋषिनगर में एक मकान का छोटा-सा हिस्सा उन्होंने किराये पर ले रखा था। एक कमरा ऊपर की मंज़िल में था और एक कोठरी-सी दो मंज़िलों के बीच थी। पंजाबियों ने बड़ा अजीब-सा नाम इस कोठरी को दे रखा था—'मियानी!' सीढ़ियों के घेरे में जो छोटी-सी जगह बच जाती, उसमें यह मियानी बना दी जाती। इसी छोटी-सी मियानी में, जगमोहन ने एक पुरानी-सी मेज़, तिपाई और कुर्सी लगा रखी थी। जब वह घर में होता तो इसी में पढ़ता और सोता और इसके छोटे-से बारजे पर आरामकुर्सी डाल कर बैठा नीचे गली में ताका करता।

सर्दियों में वह मियानी ही में सो जाता था। गर्मियों में ऊपर कमरे के सामने जो जगह थी, उसमें उसके भाई, भाभी और उनके बच्चे सोते थे, इसलिए उसे बाहर गली में चारपाई लगानी पड़ती। हवा बन्द होती। नालियों और हौदियों की सड़ाँध निरन्तर उठ कर दिमाग़ को परेशान करती। मच्छरों की भिनभिनाहट क्षण भर को भी न रुकती। जब प्रायः कुछ ठण्डक होने से, उसकी थकी हुई नसें निश्चल हो सो जातीं, तो उसके मालिक-मकान खटर-पटर करते हुए दूध दुहाने गूजरों के बाड़े की ओर चल देते अथवा सुबह-सबेरे ऊपर की छत से लगातार आवाज़ें दे कर भाभी उसे जगा देती कि ज़रा बाज़ार से जा कर दूध या तरकारी या अपने भाई के लिए दो पूरियाँ और लस्सी का गिलास, या अपनी भतीजियों के लिए थोड़ा-सा हलवा ले आये।

उसकी भाभी की फ़रमाइशों का कोई अन्त न था। वह जब घर में होता तो वह उसे चैन न लेने देती। ज़रा-ज़रा से काम के लिए उसे बाज़ार दौड़ाती। दोपहर को वह पढ़ने बैठता तो दोनों बच्चियों को उसके पास भेज देती कि अपने चाचा से पढ़ना सीखें, या फिर स्वयं मेज़पोश या पेटीकोट का कपड़ा ले कर आ बैठती कि उस पर बेल-बूटे बना दिये जायँ।

यही कारण था चातक जी से परिचय होने के बाद वह प्रायः उनके यहाँ चला जाता, वहीं खाना खाता और वहीं सो जाता।

रहीं ये भाभी—तो इनके यहाँ उसे स्नेह-ही-स्नेह मिलता। बच्चों को वह यहाँ भी पढ़ा देता। ज़रूरत पड़ने पर नहला देता, कपड़े पहना देता, खाना खिला देता। फिर भाभी जब किसी तरह की मुश्किल में पड़तीं तो भाग कर बाज़ार से ज़रूरी चीज़ें भी ला देता। परन्तु यह सब वह अपने मन से करता। भाभी तो बल्कि, सदा उससे आराम करने के लिए अनुरोध किया करतीं। उससे कहतीं कि वह कहीं अच्छी नौकरी करे, सुन्दर-सी बहू लाये और ढंग से रहे।

लेकिन इतने पर भी चातक जी के घर में कभी-कभी उसकी स्थिति बड़ी संकटमय हो जाती। जब-जब कवि समय पर घर न आते अथवा 'बायरन' बने घूमते और भाभी झींखतीं तो यद्यपि उसकी सहानुभूति भाभी के साथ होती, पर वह चातक जी के विरुद्ध भी कुछ न कह पाता। दो विरोधियों के मित्र की भाँति वह या चुप हो जाता या एक को दूसरे का पक्ष समझाने का प्रयास करता।

खाना खाते-खाते उसका मन भाभी के दुख से द्रवित-सा हो गया।

जैसे अतीत की गहराई में झाँकते हुए, और भी सानुनासिक स्वर में भाभी ने बताया कि उन्होंने गहने बेचे थे कि प्रेस चल जायगा और बच्चों के भविष्य की चिन्ता मिटेगी, पर ये लच्छन प्रेस चलने के नहीं। "कँल कँह रहें थें," भाभी ने विक्षुब्ध हो कर कहा, "किं दों हँज्जाँर का प्रबन्ध हों जायँ तों बँचते हैं, नहीं कुँर्की हों जाँयँगीं। ऐंसें हीं डँराँ-डँरा कँर तों इँतँना रुँपँयां लें लियाँ। ब्रेंचाँरें जँगन्नाँथ काँ भीं साँढ़ें छैं हँज्जाँर डुँबो दियाँ (जगन्नाथ उनका भाई था) अँब मैं कँहाँ सें लाँऊँ? मैंने कँहाँ, हों जाँय कुँर्की! जो हँमे मिलेंगाँ वँह किसी औंर कों देंकर रुँपँयाँ लें लों। लोंहें कीं मँसींनों सें गँहनें बनें किं कँपड़े?"

जगमोहन चुप सुनता रहा और खाना खाता रहा। तब भाभी ने बताया कि भैय्या छै हज़ार जगन्नाथ का, पाँच हज़ार अपना, चार हज़ार दीपक जी का —पन्द्रह हज़ार रुपया तो इस 'मुए' प्रेस को खिला दिया। रुपये किसी पेड़ में लगते हैं कि हिलायें और गिर पड़ें। वे तो तब भी कहती थीं कि यह प्रेस-व्रेस इनके बस का रोग नहीं, पर इन्होंने देखा महाशय चन्द्रभान को।....और भाभी ने जगमोहन से पूछा कि वही बताये, महाशय चन्द्रभान की-सी ठगी इनसे हो

सकती है ?

अब जगमोहन को कुछ कहने के लिए शब्द मिले, "भाभी वास्तव में वे कवि हैं," उसने कहा, "उनको प्रेस खोलना न चाहिए था। मैंने तो एक बार तब भी कहा था। पर नयी-नयी मित्रता थी, ज़ोर न दे सकता था।"

"मैं भीं तों कँहती थीं," भाभी बोलीं, "उँस सँमयँ तों इन्हें बँड़ें सँब्ज़ बाँग दिखाँयीं दें रँहें थें। माँडल टाँउन में कोंठीं बँनानें कें सँपनें देंखा कँरतें थें। अँब नौंबत इँस मँकाँन में रँहने कीं आँ गँयीं हैं। यँहा भीं जाँनें रँहतें हैं किं नँहीं !"

और यह कहते-कहते भाभी की आँखें भर आयीं। आँसू की एक बूँद को उन्होंने धोती के छोर से पोंछ लिया। जगमोहन ने खाना ख़त्म करके पानी पिया तो वे चौंकीं, "अँरें तुँम उँठ गँयें। जँराँ चाँवँल औंर लों नाँ।"

"नहीं भाभी।"

"नँहीं एँक रोंटी लों !"

और उसके 'न', 'न', करने पर भी उन्होंने रोटी और थोड़ा साग थाली में डाल दिया।

तभी सीढ़ियों में चातक जी की चप्पल की फटफटाहट और कविता की गुनगुनाहट सुनायी दी।

०

खाने के चार कौर किसी तरह कण्ठ के नीचे उतार कर श्री चातक ने जगमोहन को चौबारे में जा पकड़ा। "सुनो, आज एक कविता हुई है," कह कर उन्होंने सावधानी से मोड़ा हुआ काग़ज़ जेब से निकाला और चारपाई पर बैठ गये। जगमोहन पाँयते की ओर हो लिया।

"शीर्षक है—अनजानी !" कवि ने परिचय दिया और कविता सुनाने लगे।

चित्र तुम्हारा देखा सुन्दर, देखा नहीं तुम्हें अनजानी,
पर लगता है जैसे तुम हो, युग युग की मेरी पहचानी !
कोई भूली-बिसरी मेरे गत जीवन की कथा पुरानी
मेरी आँखों में बन आयी जैसे हो कर नयी कहानी !

और उस चित्र को देख कर कवि चातक के भावुक, अतृप्त मन ने आगत के जो प्रणय-स्वप्न देखे थे, वे सब उन्होंने उस कविता में चित्रित कर दिये थे।

कविता सुना कर कवि ने पूछा, "क्यों ?"

"बहुत सुन्दर है," जगमोहन ने कहा। और फिर कुछ रुक कर तनिक संकोच से उसने पूछा, "पर चातक जी, चित्र देख कर ही कैसे प्रेम की भावना मन में उत्पन्न हो जाती है ? मुझे तो यह सब सुन्दर झूठ-सा लगता है।"

कवि चातक कुछ क्षण चुप रहे, फिर बोले, "सौन्दर्य की सराहना के लिए अनुभूति-प्रवण और सौन्दर्य-प्रेमी हृदय चाहिए। तुम्हारे हृदय में या तो अनुभूति-शीलता की कमी है, अथवा तुम्हारे वर्त्तमान संघर्ष में वह अपनी सहज वृत्ति, अपना सहज सत्य खो बैठा है। गर्म राख में सोई हुई चिनगारी की तरह वह एक दिन चमक उठेगा।"....कुछ क्षण कवि मौन रहे, फिर बोले, "हो सकता है, तुम्हारा हृदय कवि की अपेक्षा आलोचक का हृदय हो। हृदय के सत्य के बदले शायद तुम संघर्ष के सत्य को देखते हो। सौन्दर्य तुम्हें प्रेरणा नहीं देता, यह जान कर आश्चर्य हुआ। सौन्दर्य तो जैसे किसी ने कहा—चिर-सत्य है, चिरआनन्द की वस्तु है...."

"सौन्दर्य सत्य नहीं, अथवा चिर-आनन्द की वस्तु नहीं, यह मैं नहीं कहता। मैं तो अपनी बात कहता हूँ," जगमोहन ने आलोचक की बात सुनी-अनसुनी कर कहा, "मुझे सौन्दर्य अच्छा लगता है, लेकिन हर सुन्दर वस्तु से मुझे प्रेम हो जाय, यह कैसे सम्भव है ?"

कवि चातक कुछ खिन्न-से हुए, कुछ हँसे, उनसे कुछ उत्तर न बन पड़ा। कुछ रुक कर उन्होंने कहा, "साधारण मानव की अपेक्षा कवि का हृदय अधिक अनुभूति-प्रवण, सचेत और भावुक होता है। प्रेम करने की उसकी शक्ति भी साधारण मानव से अधिक होती है, वह प्राणी-मात्र से प्रेम कर सकता है।"

"परन्तु प्रेम और आसक्ति में तो आप अन्तर मानते हैं न ?"

"क्यों नहीं !"

"और कविता के लिए क्या मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं ?"

"है, पर वहीं तक, जहाँ उसके शिल्प का सम्बन्ध है। प्रेरणा और भावनाएँ तो हृदय की वस्तु हैं, मुझसे पूछो तो मैं कविता को हृदय ही की चीज़ मानता हूँ। जिसके जीवन में अनुभूति ने कभी चोट नहीं पहुँचायी, वह कविता नहीं कर सकता।"

"पर अनुभूतियाँ तो दूसरी भी होती हैं, वे क्या कविता की प्रेरणा नहीं देतीं ?"

कवि चातक ने तब बात का रुख़ बदल दिया। बोले, "मैं चाहता हूँ, संस्कृति समाज की पहली बैठक में यह कविता पढ़ूँ।"

"अवश्य पढ़िए।"

"पर बात यह है," कवि चातक ने कुछ भेद-भरे स्वर में कहा, "मैं ऐसे ही तो नहीं पढ़ सकता। उस बैठक में कविताएँ तो होंगी नहीं। समाज के उद्देश्य आदि के सम्बन्ध में कुछ विचार-विनिमय होगा। मैं चाहता हूँ कि जब वह सब समाप्त हो जाय तो तुम मेरी इस कविता का ज़िक्र करो कि चातक जी ने बहुत सुन्दर कविता लिखी है, उसे सुना जाय !" और कुछ क्षण चुप रह कर उन्होंने कहा, "एक-दूसरे के लिए स्थान तो हमें बनाना ही चाहिए। संस्कृति-समाज का यही तो लाभ है।"

"जी अच्छा !" अपने ही विचारों में मग्न जगमोहन ने कहा।

"पर देखो, यह बात कुछ सूक्ष्म ढंग से तुमको कहनी चाहिए, नहीं 'नीरव' जी नाराज़ हो जायँगे।....तुम यों करना कि पहले 'नीरव' जी ही से कविता सुनाने का अनुरोध करना। वे तो 'ना,' 'ना' करेंगे ही फिर तुम हमसे कहना।"

"जी अच्छा।" और वह उठा।

"क्या करने जा रहे हो ?"

"कल क्या पहनूँगा, इसकी व्यवस्था करनी है। यह नेकर-कमीज़ तो मैली हो गयी।"

"तो क्या इसी नेकर-कमीज़ को धोओगे ?"

"नहीं-नहीं," जगमोहन ने कहा, "मेरे पास एक सिल्क का कुर्ता और धोती है।"

और वह सीढ़ियों की ओर चल दिया।

o

मैट्रिक के बाद ही संघर्ष ने उसके जीवन में सपनों के लिए, विशेषकर प्रेम-भरे सपनों के लिए कुछ वैसा अवकाश न रहने दिया था। मन में आगे शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा थी और माता-पिता की मृत्यु के कारण साधनों का सर्वथा

अभाव ! उसके भाई लाहौर में बीमा-एजेण्ट न होते तो शायद वह लुधियाने की किसी दुकान में दस-पन्द्रह रुपये का नौकर या किसी प्राइमरी स्कूल का टीचर होता । उसके कई सहपाठी तो अब भी लुधियाने में आलू-छोले अथवा सोडावाटर आदि बेच कर जीवन-निर्वाह करते थे । भाई से उसे कुछ अधिक सहायता मिलती हो, यह बात नहीं, पर लाहौर में रहने का एक सहारा तो था । फ़ीस जुटाने, पुस्तकों, कापियों और प्रायः अपने खाने आदि की व्यवस्था करने और परीक्षाओं में सफलता पाने के लिए उसे इतना श्रम करना पड़ता था कि प्रेम के सपने देखने का उसके पास कोई समय न रहता था । जाने सचमुच उसका दिल ही मर गया था, या जीवन के प्रतिक्षण प्रबल होते संघर्ष ने मस्तिष्क नाम की चीज़ को ऐसा सजग कर दिया था कि वह उसके हृदय पर अंकुश जमाये रखती थी ! जो भी हो, उसके सपने जीवन की प्रतिक्षण की समस्याओं से उलझे रहते ।....चलते-चलते वह सोचने लगा कि कैसे एम० ए० में दाख़िल हो पाये । कवि चातक से रुपया माँगना अथवा लेना उसके बस की बात न थी । उनकी स्थिति से वह भली-भाँति परिचित था । और यद्यपि उन्होंने उसे हर तरह से आश्वासन दे रखा था, पर वे कैसे सब आयोजन करेंगे, यह बात उसकी समझ में न आती थी । और अपनी इस समस्या को सुलझाता-उलझाता, बाज़ार की रौनक को देखते हुए भी जैसे न देखता हुआ, वह कचहरी रोड से होता अपने घर पहुँच गया ।

अपनी उस छोटी मियानी में, उसने बड़ी सम्हाल से एक सिल्क का कुर्ता और एक बारीक किनारे की महीन धोती रख छोड़ी थी । एक बार पैसे जोड़ कर तेरह आने गज़ जापानी सिल्क ले कर उसने वह कुर्ता बनवा लिया था । वह उसे विशेष अवसरों पर पहनता था और फिर सम्हाल कर रख देता था । पाँच आने का एक लक्स का डिब्बा भी उसने ले रखा था, जिसमें से आठ-दस बार धोने के बाद भी साबुन के छिलके बच रहे थे । जगमोहन ने तीनों चीज़ें उठायीं और नल के नीचे चला गया ।

तब उसकी भाभी ने अपना ब्लाउज़, जार्जेट का दुपट्टा और बच्चियों के दो फ्रॉक भी उसके आगे ला रखे कि उनको भी ज़रा लक्स के पानी में डुबकी दे दे ।

दूसरे दिन दाढ़ी बना, नहा-धो, धोती-कुर्ता पहन कर जगमोहन चला तो

वह अभी डी० ए० वी० कॉलेज होस्टल के पास पहुँचा था कि उसे गोपालनगर की ओर से आती हुई शान्ता बहन और सत्या जी मिलीं। शिष्टाचार-वश उसने दोनों को नमस्कार किया।

"आप मीटिंग ही में जा रहे हैं न ?" सहसा सत्या जी ने पूछा।

"जी !" जगमोहन ने उत्तर दिया।

मँझला क़द, छरहरा शरीर, खादी की मोटी, छपी साड़ी को बड़े यत्न से अपने शरीर के गिर्द लपेटे हुए, सत्या जी मौन रूप से चली जा रही थीं। यद्यपि उन्होंने स्वयं जगमोहन से बात चलायी थी, पर उनकी आकृति पर जो कर्कशता उसने पहले दिन देखी थी, उस में तनिक भी कमी न आयी थी। आँखें थीं कि जैसे म्यान से निकली दो तलवारें ! रंग उनका गोरा था और नक्श तीखे थे, पर कुछ ऐसी रुखाई, कड़ाई, मृदुलता का कुछ ऐसा अभाव उसे वहाँ दिखायी दिया कि फिर लगभग आध-मील चलने पर उसने स्वयं बात न चलायी। न ही वे बोलीं। शान्ता बहन ने जब धीरे-से पूछा कि ये कौन हैं तो उन्होंने बता दिया कि यही निमन्त्रण-पत्र लाये थे, अधिक वे कुछ नहीं जानतीं। और यह कह कर वही सुता हुआ मुँह लिये, वे सड़क पर गड़ी दृष्टि से निरन्तर ७५° का कोण बनाती हुई चलने लगीं।

श्री धर्मदेव वेदालंकार के मकान के बाहर ही उन्हें शुक्ला जी कवि चातक से बातें करते हुए मिले। एक दृष्टि उन्होंने सत्या जी पर और एक जगमोहन के रेशमी कुर्ते, धोती और सँवरे हुए बालों पर डाली और मूँछों में मुस्कराये।

न जाने क्यों उसे शुक्ला जी की मूँछें और उन की वह मुस्कराहट अत्यन्त खलती थी। बिना उनसे ज़्यादा बात किये, एक सूखा-सा नमस्कार उनकी ओर फेंकते हुए जगमोहन शान्ता बहन और सत्या जी को मार्ग दिखाता हुआ अन्दर ले चला।

श्री धर्मदेव के फ़्लैट तक पहुँचने के लिए मार्ग दिखाने की ज़रूरत थी भी और यदि कोई अपरिचित महिला हो तो उस के साथ एक पुरुष का होना भी आवश्यक था। उन के फ़्लैट को जाने वाली सीढ़ियों तक पहुँचने के लिए आँगन को पार करना पड़ता था और आँगन में पैर रखते ही मालिक-मकान की कुतिया बड़े ज़ोरों से आगन्तुक का अभिवादन करती थी। उस के तनिक आगे, दायीं ओर

के बरामदे में, एक घोड़ी बँधी रहती थी, जो किसी के पास से गुज़रने पर ढीला-सा मुँह छोड़ कर ज़ोर से एक 'बर्रर्रर्र'-सी कर देती—ऐसे अचानक कि आगन्तुक अपनी जगह से उछल पड़ता। कुछ और आगे आँगन के अन्त में, जहाँ से वेदालंकार जी के फ़्लैट की सीढ़ियाँ चढ़ती थीं, मालिक-मकान की भैंस बँधी रहती थी। मरकही थी, पर रस्सा छोटा होने से केवल धरती में सींग गड़ा कर रह जाती। डर उसकी दुम से रहता और उस की मार से बच कर सीढ़ियों में जा चढ़ना काफ़ी फुर्ती और सूझ-बूझ की अपेक्षा रखता था।

जगमोहन एक-दो बार चातक जी के साथ वहाँ पहले भी आ चुका था, इसलिए उस ने एक हाथ से धोती की कोर थामी, दूसरे में छड़ी उठा ली और अपने साथ आने वाली दोनों देवियों को उन विपत्तियों से बचाता हुआ फ़्लैट पर ले गया।

०

जगमोहन के आने से पहले ड्रॉइंग-रूम में काफ़ी लोग आ चुके थे। शान्ता बहन और सत्या जी को उस ने यथास्थान बैठा दिया। यद्यपि पुरुष काफ़ी संख्या में आये थे, लेकिन स्त्रियाँ अधिक न थीं। श्री धर्मदेव वेदालंकार ने अपने परिचितों की जो लम्बी सूची बनायी थी, उस में महिलाओं की संख्या कम न थी, पर कवि चातक ने उन की पत्नी को छोड़ कर और किसी को निमन्त्रित न किया था। उन्हें भय था—यदि अधिक महिलाओं को निमन्त्रित करेंगे तो या मीटिंग में कोई दूसरी महिला-मन्त्री चुनी जायगी या उन की कोई परिचिता सत्या जी के चुने जाने पर नाराज़ हो जायगी। वे तो शान्ता जी को भी न बुलाते, यदि सत्या जी के आने का निश्चय होता।

श्री धर्मदेव सिल्क का बढ़िया सूट पहने इधर-उधर व्यस्त घूम रहे थे। जगमोहन ने उन्हें आँगन में जा पकड़ा, नमस्कार किया और पूछा कि भाभी नहीं दिखायी देतीं?

"वे 'पंजाब-आर्टिस्ट्स' की मीटिंग में गयी हुई हैं।" धर्म जी ने कहा, "वे शो दे रहे हैं ना, निम्मो जी का वहाँ जाना बड़ा ज़रूरी था।"

जगमोहन कमरे की ओर मुड़ा। तभी उसकी दृष्टि 'नीरव' जी की ओर गयी। चालीस-पैंतालीस की उम्र, न बहुत लम्बा न नाटा क़द, गोरा रंग, चौड़ा

माथा, पतले होंटों में पान, बायाँ कोना एक स्थायी मुस्कान में खुला हुआ—जगमोहन को देख कर उन की मुस्कान फैल कर दायें कोने तक आ गयी। जगमोहन ने बढ़ कर उन को 'प्रणाम' किया और उन का स्वास्थ्य-समाचार पूछा, उन्हें अन्दर ले गया।

नीरव जी यू० पी० के निवासी थे। बीस वर्ष से पंजाब में रहने पर भी वे यू० पी० वाले ही बने हुए थे। सदा धोती-कुर्ता पहनते, दिन भर पान चबाते और शुद्ध संस्कृत-निष्ठ हिन्दी बोलते ; मॉडर्न स्कूल में हिन्दी-संस्कृत के अध्यापक थे; कवि थे; नाटककार थे और अब उपन्यास लिखने को प्रस्तुत थे। चातक जी और उन में कुछ ऐसा नाता था, जिसे न मित्रता कह सकते हैं न शत्रुता। हिन्दी-भाषी होने के नाते उन में मैत्री थी, पर कवि होने के नाते स्पर्धा। शुक्ला जी प्रायः दोनों के इस सम्बन्ध से लाभ उठाया करते थे। चातक जी के मित्र और संस्कृति-समाज के भावी मन्त्री के नाते जगमोहन के सामने एक विकट समस्या यह थी कि संस्कृति-समाज में जहाँ चातक जी को यथेष्ट महत्व दिया जाय, वहाँ नीरव जी को भी रुष्ट होने का अवसर न दिया जाय। वह उन के पास ही बैठ गया और उस ने पूछा, "कहिए आजकल आप क्या लिख रहे हैं ?"

"गीतिनाटिका लिख रहा हूँ !"

"जयशंकर प्रसाद के बाद तो बस आप ही का दम है," जगमोहन ने कहा।

नीरव जी की मुस्कान इतनी फैली कि उन्हें ठोड़ी आगे करके पान की पीक को निकल पड़ने से बचाना पड़ा। तभी श्री चातक, शुक्ला जी और चन्द दूसरे मित्रों को लिये हुए ऊपर आ गये। धर्म जी भी आ बैठे और उन्होंने नौकर को चाय लाने का आदेश दिया।

०

चाय-पान के बाद कार्य आरम्भ हुआ। सब से पहले धर्म जी ने संस्कृति-समाज की परम आवश्यकता पर अपने अनमोल विचार प्रकट किये। इंग्लिस्तान, अमेरिका, फ्रांस आदि देशों की सांस्कृतिक-सरगर्मियों का विशद वर्णन करने के पश्चात उन्होंने लाहौर में लिट्रेरी-लीग के अपने काम की सराहना की। "लाहौर में लिट्रेरी-लीग ने जितना सांस्कृतिक कार्य किया है, उस की प्रशंसा नहीं की जा सकती," धर्म जी ने कहा, "हम ने (यहाँ उन्होंने सफ़ाई दी कि वे उस की

कार्यकारिणी के सदस्य हैं) लिट्रेरी-लीग के प्लैटफ़ॉर्म पर हिन्दू, मुस्लिम सिक्ख, ईसाई—उन सभी लोगों को एकत्र किया है, जो साहित्य और संस्कृति में दिल चस्पी रखते हैं ।'' और उन्होंने उन्हीं दिनों होने वाले एक कंसर्ट का उल्लेख किया, जिस में निम्मो जी ने बड़ी सफलता से कथाकली और मनीपुर के कुछ ऐसे नृत्य दिखाये थे, जो विलुप्त-प्राय हो चुके थे । लिट्रेरी-लीग की अन्य सर-गर्मियों का उल्लेख करते हुए उन्होंने ज़ोर दिया कि हिन्दी-साहित्य और संस्कृति की अभिवृद्धि के लिए भी एक ऐसी ही 'संस्था की आवश्यकता है, इसलिए यह अनौपचारिक बैठक रखी गयी है कि उसकी रूप-रेखा बना ली जाय ।

धर्म जी के बाद कवि चातक ने अपने बालों की लटों को, जो बड़ी उद्दण्डता से उनकी बायीं आँख पर खेलने लगी थीं, एक हाथ से पीछे हटाते और दूसरे से कुर्ते-धोती को ठीक करते हुए संस्कृति-समाज के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये । उन्होंने धर्म जी के विचारों का समर्थन किया, पर अपनी ओर से इतना और कहा कि लिट्रेरी-लीग का उद्देश्य साहित्य और संस्कृति-मात्र की अभिवृद्धि करना है, चाहे वह साहित्य तथा संस्कृति देशी हो या विदेशी; उर्दू हो अथवा हिन्दी । संस्कृति-समाज केवल हिन्दी-साहित्य और देशी संस्कृति की अभिवृद्धि को अपना उद्देश्य बनायेगा । इसके बाद उन्होंने अपना प्रिय विषय 'देश की संस्कृति में महिलाओं का योग' पर एक छोटा-सा भाषण दिया और कहा कि संस्कृति-समाज में पुरुष-स्त्री कन्धे-से-कन्धा मिला कर काम करें । और बताया कि संस्कृति-समाज में पुरुष-मन्त्री के साथ एक महिला-मन्त्री भी होगी ।

चातक जी के बाद शुक्ला जी ने अपने स्थान पर बैठे-बैठे अपने विचार प्रकट किये । उनके होंटों की सहज मुस्कान कुछ क्षण के लिए विलुप्त हो गयी; आँखें ग़ालीचे को चीरती हुई दरी में धँस गयीं; आकृति पर रुद्र गम्भीरता छा गयी और वाणी किसी छोटे अथवा बड़े स्टेशन पर रुके बिना बढ़ी चले जाने वाली रन-थ्रू गाड़ी की तरह निरन्तर भागती रही । उन्होंने देश की तीन सौ वर्ष से चली आने वाली भयंकर दासता तथा उसके फलस्वरूप देश के साहित्य और संस्कृति की दुर्दशा का करुण चित्र खींचते हुए श्रोताओं को उनके कर्त्तव्य से परि-चित कराया और कहा कि राजनीतिक जागृति के साथ-साथ यदि सांस्कृतिक जागृति न हुई तो दासता की बेड़ियाँ कटने के बदले और भी दृढ़ हो जायेंगी ।

यह कहने के बाद उन्होंने संस्कृति-समाज के संस्थापन का समर्थन करते हुए अपनी तथा अपने गुट (उन्होंने शब्द 'सहयोगी-मित्रों' प्रयोग किया) की सेवाएँ समाज के हितार्थ प्रस्तुत कर दीं और इतना सब मानो एक ही साँस में कहने के बाद, हाथ की मुट्ठी में बन्द खैनी को, जिसे फटक कर मुँह में रखने के पहले ही वे बोलने लगे थे, एक बार फिर मल, फटक अपने निचले होंट में रख लिया।

इसके बाद पाँच-दस मिनट तक उपस्थित सज्जनों को ये तीनों भाषण पचाने का अवसर दिया गया। कुछ खुसर-फुसर होती रही। एक-आध रिमार्क भी कसा गया। तत्पश्चात श्री धर्मदेव ने कहा कि अभी एक अस्थायी कार्यकारिणी का चुनाव हो जाना चाहिए। इस बात का सभी ने समर्थन किया। तब शुक्ला जी ने, जो इस बीच खैनी के रस का समुचित उपभोग कर चुके थे, धर्म जी की साहित्यिक और सांस्कृतिक सरगर्मियों का संक्षिप्त वर्णन करते हुए प्रधान-मन्त्री के लिए उनका नाम प्रस्तावित किया। श्री चातक ने उसका समर्थन किया और हँस कर कहा कि अन्य बातों के अतिरिक्त कार्यकारिणी की अपनी हर बैठक में चाय-पान की ओर से भी निश्चिन्त हो जाना चाहिए।

इस पर उपस्थित सज्जनों ने सर्व-सम्मति से चुनाव का समर्थन किया और चाय-पान की सम्भावित दावतों पर प्रसन्नता प्रकट की। तब श्री चातक फिर खड़े हुए, उन्होंने जगमोहन का विस्तृत परिचय दिया—किस प्रकार वह उदीयमान कवि है, पत्रकार है, साहित्य और संस्कृति की सेवा के लिए उसके हृदय में कैसी लगन है आदि आदि....और सह-मन्त्री के लिए उसका नाम प्रस्तुत किया। शुक्ला जी ने इसका समर्थन करते हुए कहा कि उन्हें ऐसे ही मन्त्री की आवश्यकता है, जिसमें संस्कृति व साहित्यिक अभिरुचि के साथ-साथ अपूर्व सेवा-भाव हो और जो मन्त्री से ले कर चपरासी तक—सब काम निस्संकोच कर सके।

तब श्री चातक ने महिला-मन्त्री चुनने की बात कही और जगमोहन ने सत्या जी का नाम पेश किया और कहा कि वे 'मालती' की प्रमुख लेखिका हैं, गोपालनगर में उनका विद्यालय है और यदि वे इस काम को सँभालेंगी तो संस्कृति-समाज को महिलाओं में यथेष्ट लोकप्रियता प्राप्त हो जायगी।

यद्यपि शान्ता बहन को इस चुनाव का समर्थन करना चाहिए था, पर वे तो स्वयं इस पद की आकांक्षा रखती थीं, इसलिए चाहने पर भी उनके मुँह से एक

शब्द तक न निकला। परन्तु इस चुनाव का समर्थन सारी उपस्थित मण्डली ने प्रसन्नता से किया।

सत्य जी इस बीच चुप बनी रहीं। न उन्होंने इस पद को स्वीकार किया, न अस्वीकार। तब पूर्व-निश्चय के अनुसार कोषाध्यक्ष के पद पर शुक्ला जी और अध्यक्ष के पद पर नीरव जी का चुनाव हुआ। जगमोहन यह देख कर चकित रह गया कि चा.क जी ने स्वयं अध्यक्ष बनने के बदले नीरव जी को चुना। इसके बाद अस्थायी कार्यकारिणी के सदस्य चुने गये, जिनमें शान्ता बहन ही नहीं लगभग सभी-के-सभी सज्जनों को ले लिया गया और चुनाव समाप्त हुआ।

इस सब भाषणबाजी में जगमोहन कविता वाली बात भूल ही गया था कि श्री चातक खाँसे। जगमोहन से उनकी आँखें चार हुईं तो उसे कविता वाली बात याद हो आयी और उसने कहा कि यदि एक-आध कविता भी इस अवसर पर हो जाय तो क्या बुरा है और उस ने 'नीरव' जी से प्रार्थना की कि वे अपनी कोई नयी कविता सुनायें। जगमोहन को विश्वास था कि 'नीरव' जी तैयार न होंगे, परन्तु अध्यक्ष चुने जाने की प्रसन्नता में उन्होंने जगमोहन को निराश करना उचित न समझा और जेब से एक तह किया हुआ लम्बा काग़ज़ निकाल कर अपनी नवीन रचना—महाप्रस्थान—पढ़नी शुरू कर दी।

चातक जी ने कविता की बात सुन कर अपनी रचना निकाली थी; पर उन्हें विवश हो 'महाप्रस्थान' सुननी पड़ी। और जब वह कविता समाप्त हुई तो यद्यपि उपस्थित सज्जनों पर 'काल-कराल' का कुछ ऐसा आतंक छा गया था कि उस वातावरण में कवि चातक की रुचि कविता सुनाने की न रही थी, पर जगमोहन को तो अपना कर्त्तव्य पूरा करना था, इसलिए उसने उनसे प्रार्थना की और अनिच्छापूर्वक उन्हें कविता सुनानी पड़ी। लेकिन पहला चरण समाप्त करते-करते वे अपने मूड में आ गये। उन्होंने कविता पढ़ते हुए कई पंक्तियाँ दो बार पढ़ीं; कई पंक्तियों पर उपस्थित-सज्जनों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया, जब-जब 'चित्र तुम्हारा देखा सुन्दर' की पुनरावृत्ति की, सत्या जी की ओर विशेष रूप से देखा; पर सत्या जी मौन बैठी रहीं। एक बार जब जगमोहन अलमारी में रखी पुस्तकों के नाम पढ़ने का प्रयास कर रहा था और वे एक घुटने पर टिके हुए सिर को दूसरे घुटने पर रखने के लिए पहलू बदल रही थीं तो उनकी निगाहें

मिलीं। उन्होंने सिर दूसरे घुटने पर रख लिया और जगमोहन निरन्तर पुस्तकों के नाम पढ़ता रहा।

कवि चातक ने कविता समाप्त की; मीटिंग भी ख़त्म हुई और लोग उठ खड़े हुए। तब श्री चातक बायें हाथ से बालों की लटों को हटाते और मुस्कराते हुए शान्ता बहन के पास आये और सत्या जी को सुना कर उन्होंने कहा कि अब संस्कृति-समाज को लोकप्रिय बनाना आप ही का काम है। इस बात पर उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की कि गोपालनगर में समाज को विशेष लोकप्रियता प्राप्त होगी। सत्या जी मन्त्री हैं और शान्ता जी कार्यकारिणी में और दोनों न केवल गोपाल-नगर की रहने वाली हैं, वरन सहेलियाँ भी हैं। इसके बाद उन्होंने सत्या जी से कहा कि ये जगमोहन को उनके घर भेजेंगे। हर मीटिंग का कार्यक्रम वे अपने प्रेस में छपा कर जगमोहन के हाथ उनके पास भिजवा दिया करेंगे। यदि सम्भव हो तो वे उसको घर दिखा दें, ताकि विद्यालय में उनको परेशान न किया जाय। "आज मुझसे अधिक प्रसन्नता किसे होगी," अन्त में उन्होंने कहा, "आज मेरा चिरदिन का स्वप्न पूरा हुआ है।" और यह कहते हुए उन्होंनें यह जता दिया कि संस्कति-समाज उन्हीं के मस्तिष्क की उपज है और यद्यपि वे उसके पदाधिकारी नहीं, पर वे ही उसके कर्ता-धर्ता होंगे।

कवि चातक उन दोनों को वहीं कुछ और समय तक रोक कर संस्कृति के प्रचार तथा उस की अभिवृद्धि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते, पर कमरा लगभग ख़ाली हो गया था, सत्या जी ने कहा, "आप जगमोहन जी को हमारे साथ भेज दीजिए। रास्ते में मुसलमानों की बस्ती है, हमें ज़रा उस के पार भी कर देंगे और मैं उन्हें अपना पता भी बता दूँगी।"

चातक जी ने अचकचा कर आँगन में खड़े जगमोहन को बुलाया और अलग ले जा कर उस के कान में इतना कहा कि उन्होंने श्री धर्मदेव और शुक्ला जी दोनों से उस के सम्बन्ध में बातचीत की है और दोनों ने एम० ए० करने में उस की सहायता करने का वचन दिया है। धर्म जी तो शीघ्र ही उसे कुछ काम भी देंगे। यह कहते हुए वे उसे फिर वापस वहीं ले आये, जहाँ दोनों देवियाँ खड़ी थीं और उन की ओर संकेत कर कवि ने कहा, "अब तुम ज़रा इन को घर तक पहुँचा आओ, सत्या जी का घर देख आना, ताकि समाज की बैठकों की विज्ञप्ति आदि

पहुँचाने में तुम्हें कठिनाई न हो।

o

"जगमोहन, जगमोहन !"

जगमोहन सीढ़ियाँ उतर कर, भैंस की झूलती हुई दुम के आगे छड़ी करके शान्ता और सत्या जी को तत्काल निकल जाने के लिए कह रहा था कि अपना नाम सुन कर उस ने सिर उठाया।

पिछले कमरे में पंडित दाताराम अपने गंजे सिर पर हाथ फेरते हुए उसे बुला रहे थे। 'अभी तो ये ऊपर थे,' जगमोहन ने मन-ही-मन सोचा, 'अब यहाँ काम पर ऐसी मुस्तैदी से जमे हुए हैं कि जैसे यहाँ से कभी हिले ही न थे।' उस ने शान्ता और सत्या जी से क्षमा माँगी और छड़ी को भैंस की दुम की दूसरी ओर करके पंडित जी की ओर बढ़ा। वे दोनों दो सीढ़ियाँ पीछे हो कर भैंस की दुम की प्रहार-सीमा से परे चली गयीं।

"कहिए क्या आज्ञा है ?" जगमोहन ने पंडित जी के समीप पहुँच कर कहा।

"वह जो सत्या है," पंडित जी ने सीढ़ियों की ओर संकेत करते हुए कहा, "उस ने शायद नौकरी के लिए हमारे कॉलेज में आवेदन-पत्र दिया है, ज़रा मैं उस से बात कर लूँ। लड़की तो गम्भीर और समझदार मालूम होती है। ठीक है तो उसे ही रख लें।"

"मैं उन से पूछ कर बताता हूँ।"

और जगमोहन वापस पलटा। सत्या जी को उसने दो सीढ़ी नीचे बुला कर पूछा, "आपने देवचन्द कॉलेज में नौकरी के लिए आवेदन-पत्र दिया है ?"

"क्यों ?" उन्होंने सिर उठा कर सीधी दृष्टि से जगमोहन को देखते हुए पूछा।

"पंडित दाताराम उस के प्रिंसिपल हैं। लुधियाने में गवर्नमेंट कॉलेज में पढ़ाते थे। मैं उन्हें जानता हूँ। उन्होंने कहा है कि यदि आप उनसे भेंट कर लें तो नौकरी मिल सकती है।"

"वेतन क्या देंगे ?"

"यह तो मैंने पूछा नहीं। आप कहें तो मैं पूछ आता हूँ, या समय ले आता हूँ, आप मिलना चाहें तो मेरे साथ आ जाइएगा।"

"बहुत अच्छा !"

जगमोहन वापस मुड़ा। पंडित जी फिर जा कर काम में रत हो गये थे। जगमोहन की बात के उत्तर में उन्होंने कहा कि वे अभी वेतन के सम्बन्ध में तो नहीं कह सकते। एक बार मिल कर बात कर लें तो फिर कह सकेंगे और उन्होंने दूसरे दिन सुबह का समय दिया।

भैंस इस बीच में बैठ गयी थी और सत्या जी सीढ़ियाँ उतर आयी थीं। जगमोहन उन के पास से निकला तो सत्या जी ने केवल आँखें तनिक उठा कर, बिना बोले पूछा कि क्या कहा पंडित जी ने ?

"उन्होंने कल सुबह का समय दिया है।" उन्हें तनिक एक ओर ले जा कर जगमोहन ने कहा, "यदि आप कल उन से मिल लें तो वे वेतन आदि के सम्बन्ध में बता देंगे।"

"आप पंडित जी को अच्छी तरह जानते हैं ?"

"मैं उन से पढ़ा तो नहीं," उस ने कहा, "पर हमारे ही नगर में गवर्नमेंट स्कूल में वे अध्यापक थे और हमारे मुहल्ले में एक लड़के को पढ़ाने आते थे, इसलिए जानता हूँ। मेरे दादा जी से इनकी अच्छी घुटती थी। मैं यहीं ऋषिनगर में रहता हूँ, आप चाहें तो मैं भी साथ आ जाऊँगा।"

सत्या जी ने 'न' की न 'हाँ,' चुपचाप वे चल पड़ीं।

वे 'ब्रेडला हॉल' के सामने पहुँच गये थे और जगमोहन का ख़याल था कि उन्हें ट्रेनिंग कॉलेज के इस किनारे छोड़ कर वह चातक जी की ओर चला जायगा, पर तभी सत्या जी ने सहसा पूछा, "आप तो ऋषिनगर में रहते हैं न ?"

"जी हाँ !"

"तो फिर इधर टैप रोड की ओर से क्यों नहीं चलते ?"

"घर तो मेरा यहीं है, पर मैं अधिकतर चातक जी के यहाँ सोता हूँ।"

"तो कल सुबह आप यहाँ मिलेंगे या वहीं ?"

"जैसे आपको सुविधा हो। आप चाहें तो मैं आप को घर से भी ले सकता हूँ, यदि आप मुझे अपना पता दे दें।"

"नहीं, आप इतना कष्ट क्यों करें ! मेरा घर बड़ी दूर है—गोपालनगर में तेग़बहादुर रोड से भी परे ! आप को फिर चातक जी के यहाँ भी जाना होगा।

आप मुझे अपना घर दिखा दीजिए। वहीं से मैं आप को लूँगी।"

और तीनों टैंप रोड की ओर हो लिये। सत्या जी फिर घोंघे की तरह अपने खोल में समा गयीं और शान्ता जी फिर चहकने लगीं।

होतूसिंह रोड पर हलवाई के बराबर की गली में से होता हुआ जगमोहन उन्हें अपने घर की बालकनी के नीचे ले गया। "यहाँ मेरे भाई रहते हैं," उस ने अपने मकान की ओर संकेत करके कहा, "मैं यहीं सुबह आठ बजे आपकी प्रतीक्षा करूँगा।"

वह उन्हें नमस्कार कर, घर के अन्दर जाने लगा था कि सहसा मुड़ कर उस ने कहा, "चलिए, मैं आप को अपने मुहल्ले की हद तो पार करा आऊँ।"

"कि हम कहीं फिर न आ जायँ !" सत्या जी ने सहसा मुस्करा कर कहा, "लेकिन मैं तो कल ही आ रही हूँ।"

"नहीं नहीं, ऐसी बात नहीं।" और झेंप-भरी मुस्कान जगमोहन के होंटों पर फैल गयी।

तीन

रात जगमोहन चातक जी के यहाँ ही सोया था। सवेरे उसकी आँख खुली तो वह अकेला छत पर सोया पड़ा था और धूप उसके मुँह तक आ गयी थी। हड़बड़ा कर वह उठा था और अमृतधारा रोड से ऋषिनगर तक लगभग दो मील भागता हुआ चला आया था।

"भाभी कोई मुझे पूछने तो नहीं आया ?" घर आते ही उसने पूछा था।

"नहीं कोई भी तो नहीं !"

जगमोहन की साँस फूल रही थी। पसीने से उसकी कमीज़ गच्च थी। पंखे से हवा करते हुए उसने पूछा, "टाइम क्या होगा ?"

"साढ़े छः बजे हैं !" उसके भाई ने कहा।

"कितनी धूप चढ़ आती है आजकल सुबह-सुबह !" वह बोला और कुछ आश्वस्त हो कर शेव करके, नहाने चला गया।

स्नानागार से निकल कर अभी उसने बाल भी न सँवारे थे कि भाभी का आदेश मिला, "जगमोहन ज़रा बाज़ार से एक पाव दही तो ला दो।"

जगमोहन चाहता था कि नहा-धो, वही सिल्क का कुर्ता और धोती पहन, सत्या जी के आने से पहले-पहले तैयार हो जाय, लेकिन भाभी के आदेश की पूर्ति के लिए वह तहमद और बनियान पहने ही पैसे ले कर बाज़ार की ओर चल दिया।

ऋषिनगर में तो गलियाँ ही गलियाँ थीं। बाज़ार अभी पूरी तरह से न बना था। दही लेने के लिए उसे सन्तनगर के बाज़ार अथवा होतूसिंह रोड पर जाना पड़ता था। वह डाकख़ाने के पास पहुँचा था कि आगे से उसे सत्या जी आती हुई मिल गयीं। जगमोहन को अपनी इस भूषा पर तनिक झेंप हुई लेकिन उसे छिपाते हुए, बेपरवाही से उस ने कहा, "मैं तो आप ही की राह देख रहा था। आप चल कर बैठिए, मैं भाभी से कह आया हूँ, अभी दो मिनट में दही ले कर लौटता हूँ।"

बिना कुछ उत्तर दिये सत्या जी चल पड़ीं और जगमोहन दही लेने भागा।

वापस आया तो उसने देखा कि सत्या जी मियानी के बदले किचन में उस की भाभी के साथ बैठी हैं और मटर निकाल रही हैं और दोनों इस प्रकार घुल-मिल कर बातें कर रही हैं, जैसे आदि काल से एक-दूसरी को जानती हों। क्षणभर के लिए वह चकित-सा खड़ा रहा। पाव के बदले वह आध सेर दही लाया था। पाव भर भाभी के लिए और पाव भर अपने लिए। उसका ख़याल था कि सत्या जी मियानी में बैठी होंगी, वह ऊपर जायगा और भाभी से कह कर उन के और अपने लिए एक-एक गिलास लस्सी बनवा लायेगा। लेकिन उन्हें रसोईघर ही में बैठे देख वह कुछ दुविधा में पड़ गया। फिर अपनी उसी बेपरवाही से आगे बढ़ कर उस ने कहा, "भाभी मैं आध सेर दही लाया हूँ। दो गिलास हम लोगों के लिए भी बना देना।"

"लस्सी हम आ कर पी लेंगे।" सत्या जी ने सहसा कहा, "आप जल्दी तैयार हो जाइए, पंडित जी चले न जायँ।"

कुछ व्यस्त-सा हो कर जगमोहन कपड़े बदलने के लिए मियानी की ओर लपका।

भाभी ने दही लोटे में डालते हुए कहा, "बैठिए अब लस्सी पी कर ही जाइए।"

"हमारे हिस्से का दही सम्हाल रखिए ! अभी लौट कर पीते हैं।" सत्या जी नमस्कार कर सीढ़ियाँ उतरीं। मियानी के बाहर से जगमोहन को सुना कर उन्होंने कहा, "मैं नीचे खड़ी हूँ, आप जल्दी आइए ?"

गवर्नमेंट हाईस्कूल लुधियाना के अवकाश-प्राप्त अध्यापक पंडित दाताराम शास्त्री उन बुज़ुर्गों में से थे, जो 'कर्मठ' कहलाते हैं। कुछ लोग ऐसे महात्माओं को कंजूस, मक्खीचूस, कृपण, 'चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय' आदि नामों से पुकारते हैं। ये सब साधारण जन निश्चय ही ईर्ष्यावश ऐसा करते हैं। वे इन महान आत्माओं के निष्काम कर्म करने वाले स्वभाव को नहीं जानते, जिन के लिए यह जीवन कर्मस्थली के सिवा कुछ नहीं, अकर्मण्यता जिन के निकट मृत्यु ही का दूसरा नाम है। इस कर्म-क्षेत्र में यदि धन अथवा सन्तति नाम की चीज़ इन महानुभावों के पास आ जाती है तो उस का महत्व उस राज-पाट से अधिक नहीं, जो निष्काम लड़ते-लड़ते पाण्डवों के अधिकार में आ गया था।

कुछ ऐसी निष्ठा उन में थी, जिस का बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं। एक बार अपने काम में असफल होने पर वे फिर उसी निष्ठा व तत्परता से उस में रत हो जाते थे—उस चींटी की तरह, जो अपने से कहीं बड़ी मक्खी को दीवार के ऊपर चढ़ा ले जाना चाहती है, बार-बार असफल होती है, पर अपना श्रम नहीं छोड़ती। इस निष्ठा के फलस्वरूप सात लड़कियों के बाद अन्ततोगत्वा उन्होंने पुत्र-रत्न का मुँह भी देखा। इतने बड़े कुटुम्ब का पेट पालने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। तमिल भाषा के ऋषि व्यास (तिरुवल्लुवर) के इस उपदेश को अनजाने ही उन्होंने अपना लिया था कि अपने कुटुम्ब की उन्नति के लिए जो सतत प्रयत्न-शील रहता है, भगवान भी उस की सहायता के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं।

पण्डित जी में एक गुण था, जो उन की कर्मठता, निष्ठा और आत्मनिर्भरता के साथ निरन्तर उन की सहायता करता आया था; वह थी उनकी चाटुकारिता। उत्कोच-देवता, जो धन-धान्य से भी अधिक मिष्ट-भाषण और प्रशंसा से प्रसन्न होता है, उन से सदैव प्रसन्न रहता था। उसी का फल था कि ज्योंही उन्होंने अपनी सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण किया, उन्हें देवचन्द कॉलेज की सिटी ब्रांच की अध्यक्षता मिल गयी। कॉलेज की वह शाखा उन्हीं को काम देने के लिए खोली गयी थी और उस की स्थापना, व्यवस्था और उसे डिग्री कॉलेज तक ले

जाने का गुरु भार उन्हीं को सौंपा गया था।

०

'सत्या जी को ज़रूर इस कॉलेज की नौकरी मिल जायगी,' जगमोहन ने मन-ही-मन सोचा, और अपने साथ चली जाने वाली, लड़की से एकदम अध्यापिका बन कर 'सत्या जी' कहलाने वाली, उस युवती की ओर देखा।

सत्या जी की निगाहें उस समय सड़क पर ७५° का कोण न बना रही थीं, बल्कि सीधी पड़ रही थीं।

दोनों मौन रूप से चलते हुए घोड़ा-अस्पताल तक आ पहुँचे थे। न जगमोहन ने कोई बात की थी न सत्या जी ने। दोनों के मध्य अन्तर भी काफ़ी था। ऐसा लगता था, जैसे दोनों एक ही काम पर साथ-साथ नहीं, बल्कि भिन्न कामों पर अलग-अलग चले जा रहे हैं? तभी सहसा सत्या जी ने कहा, "पण्डित जी ने आप से कुछ और बात भी कही थी?"

लेकिन यह कहते हुए उन्होंने उस की ओर देखा नहीं, केवल उन के निकट आने से जगमोहन ने जाना कि प्रश्न उस से किया गया है।

"किस बारे में?" जगमोहन बोला।

"यही वेतन-ऊतन के बारे में! क्या कहते थे?"

"मैंने आप से कहा था न, मुझ से तो उन्होंने बात नहीं की," जगमोहन ने उत्तर दिया, "पर अभी चल कर बात किये लेते हैं।" फिर कुछ क्षण बाद वह बोला, "आप को इस नौकरी का पता कैसे चला था? आप ने समाचार-पत्र में विज्ञापन देखा होगा, वहाँ वेतन दर्ज न था?"

"नहीं मैंने समाचार-पत्र में तो नहीं देखा।" सत्या जी ने कहा, "देवचन्द कॉलेज के एक ट्रस्टी मेरे पिता जी के मित्र हैं। उन के यहाँ इस कॉलेज के खुलने की कुछ बात हुई थी, उन्हीं के कहने पर मैंने आवेदन-पत्र दिया था।"

और धीरे-धीरे सत्या जी ने जगमोहन को बताया कि वे लोग अमृतसर के रहने वाले हैं, उन के पिता वहाँ वैद्य हैं। 'बोरियों वाली गली' में उन का एक मकान भी है। उन के पिता का स्वभाव बड़ा विचित्र है। जम कर किसी जगह बैठना उन्होंने नहीं सीखा। वे क्लर्क भी रहे हैं और बीमा-एजेण्ट भी। १९२१ और '३१ के कांग्रेस-आन्दोलनों में जेल भी हो आये हैं और अब वैद्यक भी करते

हैं। अमृतसर में उन का (सत्या जी का) मन न लगता था, इसलिए वे अपने पिता के चचेरे भाई के पास गोपालनगर आ गयी हैं। यहीं उन्होंने शिक्षा प्राप्त की है और यहीं गोपालनगर में अपना विद्यालय खोल लिया है।

कुछ दूर तक दोनों फिर चुपचाप चलते रहे। फिर सत्या जी ने जैसे अपने ही से बातें करते हुए बताया कि उन का विद्यालय कुछ चल नहीं रहा। शान्ता बहन को उन का वहाँ विद्यालय खोलना एक आँख नहीं भाया। जब से उन्होंने बन्दा बैरागी स्ट्रीट में वह कमरा किराये पर ले कर लड़कियों को पढ़ाना आरम्भ किया है, श्री भगतराम जले पैर की बिल्ली बने हुए हैं। यदि यह नौकरी न मिली तो वे वापस अमृतसर चली जायँगी।

दोनों साथ-साथ चले जा रहे थे। यद्यपि ये बातें करते हुए उन्हों ने एक बार भी जगमोहन की ओर न देखा था, तो भी जगमोहन को ऐसा लगा जैसे अपने भेद का साझीदार बना कर वे उस के निकट आ गयी हैं और उसे उन की तसल्ली के लिए अवश्य कुछ-न-कुछ कहना चाहिए। वह बोला, "आप चिन्ता न कीजिए, अव्वल तो मेरा खयाल है कि पंडित जी आप के व्यक्तित्व से बड़े प्रभावित हुए हैं। यह नौकरी आप को अवश्य मिल जायगी। कुछ रुकावट भी हुई तो मैं उसे दूर करने का भरसक प्रयास करूँगा।"

"आपकी बड़ी कृपा होगी।"

जगमोहन को उनके स्वर में अनायास कुछ ऐसी मृदुलता, करुणा और स्निग्धता का आभास मिला कि उस ने सहसा मुड़ कर उन की ओर देखा। उन की निगाह सामने न थी। सड़क पर झुकी थी। वहीं से उन्हों ने भी कनखियों से उस की ओर देखा।

"नहीं इस में कृपा की क्या बात है।" जगमोहन ने कहा।

सत्या जी ने कोई उत्तर न दिया। वे उसी प्रकार उसे देखती रहीं। उन की समस्त कर्कशता जाने कैसे विलुप्त हो गयी थी। चट्टान की रुक्षता के बदले बहते पानी का तारल्य उन की आकृति पर आ गया था।

o

"आप लोगों ने बड़ी देर कर दी!"

जगमोहन ने चौंक कर देखा—सामने, अपने घर के बाहर, पण्डित दाताराम

नख-से-शिख तक पण्डित मदनमोहन मालवीय बने खड़े थे।

"मैं कॉलेज जाने के लिए कब से तैयार बैठा हूँ।" उन्हों ने कहा।

"ये तो समय पर ही आ गयी थीं, मुझी को देर हो गयी," जगमोहन ने सफ़ाई दी, "दो-तीन दिन से संस्कृति-समाज के चक्कर में दिन-रात घूमता रहा हूँ, थक गया था, समय पर जग नहीं सका।"

"यहाँ तो बैठने के लिए भी कोई जगह नहीं," पण्डित जी ने पहले अपने दायें और फिर बायें कन्धे पर दृष्टि डालते हुए कहा, "ख़ैर आओ!"

और पण्डित जी के पीछे-पीछे दोनों वहीं आँगन पार कर, उनके कमरे में गये। कमरा काफ़ी खुला था, परन्तु किसी ओर कोई खिड़की या रोशनदान न होने के कारण काफ़ी अन्धकारमय था। कमरे का कुल जमा सामान एक ट्रंक और चारपायी थी। बैठने के लिए एक चटाई फ़र्श पर बिछी थी।

पण्डित जी ने सत्या जी को चारपायी पर बैठने के लिए कहा, पर उन के कहने से पहले ही वे चटाई पर बैठ गयी थीं। उन की आकृति पर वह विचित्र-सी रुक्षता मिली गम्भीरता पूर्ववत आ गयी थी। "आप इधर बैठ जाइए," चटाई के कोने की ओर संकेत करते हुए तनिक सिमट कर उन्हों ने जगमोहन से कहा, लेकिन जगमोहन पहले ही ट्रंक पर बैठ गया था।

सत्या जी पर एक स्निग्ध दृष्टि डालते और अपने कृत्रिम दाँत निपोरते हुए, जो उन के श्याम रंग के कारण मोतियों-से चमकते थे, पण्डित जी ने कहा, "मैंने आप का आवेदन-पत्र पढ़ा है। अध्यापन सम्बन्धी आप को क्या अनुभव है?"

"गोपालनगर में इन का अपना विद्यालय है, अभी उसे खुले छै महीने भी नहीं हुए, पर गोपालनगर में उस की धाक जम गयी है।" उत्तर जगमोहन ने दिया।

"तो फिर नौकरी से शायद इन्हें उतना लाभ न हो।" पण्डित जी ने उसी प्रकार बेमतलब दाँत निकोस दिये।

"बात यह है कि सत्या जी 'शान्ता विद्यालय' की पढ़ी हैं; इन में उन में बहुत अच्छे सम्बन्ध भी हैं। इन्हों ने विद्यालय खोला है तो उन की बहुत-सी लड़कियाँ इधर आ रही हैं और व्यर्थ का मन-मुटाव हो रहा है। ये नहीं चाहतीं कि

इन के कारण शान्ता जी को क्लेश हो।" जगमोहन ने सफ़ाई दी।

"हूँ !" पण्डित जी ने कुछ सोचते हुए कहा, "आवेदन-पत्र तो मेरे पास बहुत-से आये हैं, पर मैं ऐसी अध्यापिका चाहता हूँ, जिसे न केवल पठन-पाठन का अनुभव हो, बल्कि जो 'कॉलेज' को अपना ही समझे। अभी हमने 'रत्न' और 'भूषण' की पढ़ाई शुरू की है, पर आगामी वर्ष हम 'प्रभाकर' और मैट्रिक की क्लासें भी आरम्भ कर देना चाहते हैं। मैं ऐसी अध्यापिका चाहता हूँ, जो न केवल अपनी छात्राओं को पढ़ाये, बल्कि आस-पास के गली-मुहल्लों से छात्राएँ भी लाये।"

"इस काम में," जगमोहन ने पण्डित जी से कहा, "सत्या जी आप की बड़ी सहायता करेंगी। इनके विद्यालय की छात्राएँ तो आप के यहाँ आ ही जायेंगी, लेकिन 'सूत्रमण्डी' से 'बच्छोवाली' तक की छात्राएँ भी ये आप के यहाँ ले आयेंगी।"

"बस तो आप अपने-आप को नियुक्त ही समझिए।" पण्डित जी ने कहा, "मैं आज ट्रस्ट के प्रधान से मिलूँगा। एक-दो आवेदन-पत्र ऐसे हैं, ट्रस्टी जिन के पक्ष में हैं, पर मैं वह सब देख लूँगा।"

"वेतन कितना होगा ?" जगमोहन ने पूछा।

"प्रभाकर पास के लिए ट्रस्ट ने तीस रुपये वेतन रखा है। पर ये मैट्रिक भी हैं, इसलिए मैं पैंतिस दिलाने का प्रयास करूँगा।" उन्होंने कहा, "तुम लोग दो-तीन दिन में मुझे वहीं कॉलेज में मिलना। ट्रस्टियों से तो मैं आज ही मिलूँगा, पर इस बात का निर्णय होने में कुछ दिन लग सकते हैं।"

सत्या जी भी उठीं। पण्डित जी ने उन के कन्धे को तनिक छू कर उन की ओर देखते हुए कहा, "तुम अपनी नियुक्ति पक्की ही समझो। बस ऐसा चला कर दिखाओ कॉलेज कि शहर भर की लड़कियाँ वहाँ आने लगें। शहर के अन्दर कई स्कूल हैं, जिनमें 'रत्न,' 'भूषण' आदि की पढ़ाई होती है, लेकिन निस्बत रोड पर जैसा कॉलेज है, वैसा एक भी वहाँ नहीं। मैं चाहता हूँ कि देवचन्द कॉलेज की यह शाखा सब को पीछे छोड़ जाय।"

और पण्डित जी उठे।

०

घोड़ा-अस्पताल के पास दोराहे पर पहुँच कर जगमोहन ने कहा, "कौन-सा रास्ता आप को निकट पड़ेगा। इधर से जायेंगी या इधर से ?"

"मैं तो तेगबहादुर रोड पर रहती हूँ," सत्या जी ने कहा, "इधर से मुझे निकट पड़ता है।"

"तो आइए !"

और दोनों ऋषिनगर की ओर चले। होतूसिंह रोड के कोने पर पहुँच कर जगमोहन ने कहा, "अच्छा मैं तो इधर से चला जाता हूँ—इन धोबियों के घरों के पास से हो कर ! परसों आप चाहेंगी तो मैं आप के साथ चला जाऊँगा।"

"चलिए मैं भी इधर से चलती हूँ। डाकखाने के सामने से निकल जाऊँगी।"

होतूसिंह रोड के इस कोने से हो कर गोविन्द गली तक दो-तीन बीघे तिकोनी धरती अभी खाली पड़ी थी, उस से ऊपर की तिकोनों में अभी तक खेती होती थी और इधर की तिकोन में धोबियों ने छप्पर डाल लिये थे। इस सिरे से उस सिरे तक बाँसों के सहारे रस्सियाँ टँगी रहती थीं, जिन पर दिन-रात कपड़े लटका करते थे। यद्यपि होतूसिंह रोड पर ज़रा आगे जा कर, हलवाई की दूकान के पास से जगमोहन के घर को सीधा रास्ता जाता था, पर जगमोहन को धोबियों की इस पगडण्डी से जाना बड़ा भाता था। पके हुए गेहूँ की पृष्ठ-भूमि में दूर तक रस्सियों से बँधे, उलटे लटके, फरफराते अथवा हवा से फूले हुए गुब्बारों-ऐसे पाजामे, शलवारें, कमीज़ें दुपट्टे उसे बहुत अच्छे लगते थे। पगडण्डी से जाओ तो इन रस्सियों के नीचे से गुज़रना पड़ता था। कभी कोई फरफराता हुआ दुपट्टा उस के सिर से लिपट जाता। कभी किसी उड़ती कमीज़ के नीचे से निकलना पड़ता। यह आँख-मिचौनी जगमोहन को बड़ी भली लगती। परन्तु सत्या जी को साथ देख कर उसे झिझक हुई। "आप को तो इधर से कष्ट होगा," उस ने रुक कर कहा, "चलिए सड़क पर से चलते हैं।"

"नहीं-नहीं कोई कष्ट नहीं।" सत्या जी बढ़ते हुए बोलीं और कपड़ों के उस सागर में डूबती-उतराती चल दीं। पगडण्डी जगमोहन के घर के नीचे जा निकलती थी। वहाँ पहुँच कर उसने स्वभावानुसार कहा, "चलिए आप को अपनी हद पार करा आऊँ।"

"पर मैं तो परसों फिर आ रही हूँ," सत्या जी ने जैसे गली के फ़र्श को सुना कर कहा, "लस्सी आप मेरी सुरक्षित रखिएगा, परसों आ कर पियेंगे !"

जगमोहन खिसियाना-सा हो कर हँसा, "माफ़ कीजिए, मैं तो भूल ही गया, इतनी गर्मी पड़ रही है, लस्सी पी कर जाइए ! आप चलिए, मैं भाग कर बर्फ़ ले आऊँ ।"

बिना कोई उत्तर दिये सत्या जी मकान की सीढ़ियाँ चढ़ गयीं ।

जगमोहन बर्फ़ लेने भागा ।

वापस आया तो वह पसीना-पसीना हो रहा था । उस ने देखा, सत्या जी भाभी के पास बैठी हुई हैं । भाई साहब भी आ गये हैं और बीमा कराने के लाभ पर अपने विचार उन को सविस्तार बता रहे हैं । जगमोहन के आने पर उन्हों ने कहा, "मैं सत्या जी से कह रहा था कि इन को बीमे का काम हाथ में लेना चाहिए । कांग्रेस-सेवा से यह सेवा किसी प्रकार कम नहीं । एक व्यक्ति को बीमे के लिए तैयार करना एक बार 'स्वराज्य-मन्दिर' (जेल) जाने के बराबर है ।"

"एजेण्टी-वेजेण्टी नहीं," जगमोहन के बदले सत्या जी भाई साहब की बात का उत्तर देते हुए बोलीं, "पर बीमा कराने वाले मैं आप को कई दे दूँगी ।"

"लस्सी क्या पीते हो," भाई साहब ने कहा, "अब तो खाने का समय है, खाना खा कर ही लस्सी पियो !" और उन्होंने सत्या जी से कहा, "आप भी यहीं खाना खाइए । एक-डेढ़ का वक्त तो होने को आया है ।"

"नहीं अब मैं चलूँगी । परसों फिर आ रही हूँ ।"

"भाभी तुम लस्सी बनाओ, ज़रा ये कपड़े बदल आऊँ, यह सिल्क का कुर्ता तो जान निकाले दे रहा है ।" वह नीचे मियानी की ओर भागा । धोती-कुर्ता बड़ी सावधानी से उस ने सूखने को खूँटी पर टाँग दिया और तहमद लगा कर ऊपर आया । भाभी ने लस्सी के गिलास बना कर एक सत्या जी को और एक उसे दिया । "मैं तो कहती थी, खाना यहीं खा लेतीं," भाभी ने कहा, "इस धूप में कहाँ जायेंगी । पर ये मानती नहीं ।"

"परसों जो आ रही हूँ !" सत्या जी ने लस्सी का गिलास मुँह से लगाते हुए कहा ।

गिलास को एक ही साँस में खत्म करके जगमोहन ने पंखा उठाया और ज़ोर

से झलने लगा ।

"आप इतनी मोटी खद्दर की धोती पहन कैसे लेती हैं ? मेरा तो इस डोरिये के जम्पर में दम निकला जा रहा है !" भाभी बोलीं ।

"खादी का यही तो लाभ है," सत्या जी ने उठते हुए कहा, "पसीना सोख लेती है । नहीं इस गर्मी के मौसम में चलना-फिरना कठिन हो जाय !" और ख़ाली गिलास रसोई-घर में रख कर वे सीढ़ियाँ उतरीं ।

"परसों खाना फिर इधर ही खाइएगा !" भाभी ने सीढ़ियों पर खड़े-खड़े कहा ।

"देखिए, परसों आने तो दीजिए !" सत्या जी मुड़ कर बोलीं । उन्होंने भाई साहब तथा भाभी को नमस्कार किया और खट-खट सीढ़ियाँ उतर गयीं । जगमोहन पीछे-पीछे उतरा । मियानीं के पास रुक कर सत्या जी ने अन्दर झाँका, "यहाँ आप रहते हैं ?" उन्होंने कहा और अन्दर कदम रखा ।

"काम-काज यहीं करता हूँ, सोने को चातक जी के यहाँ चला जाता हूँ ।"

"क्यों ?"

"इस घर में गर्मियों में सोने की जगह कम है ।"

"आप की भाभी कहती थीं, दूसरा कमरा ख़ाली है, उस के सामने सोने की भी जगह है, वह आप क्यों नहीं ले लेते ?"

"अभी उतने पैसे नहीं हैं ।"

"यह मियानी तो बहुत छोटी है ।"

जगमोहन ने कोई उत्तर नहीं दिया ।

"पर आपने बहुत अच्छी सजा रखी है ।" और वह बालकनी में चली गयीं ।

"यह बालकनी न हो तो इस में रहना मुश्किल हो जाय ।" जगमोहन ने कहा, "मुझे कुछ काम करना होता है तो यहीं कुर्सी-मेज़ लगा लेता हूँ ।"

सत्या जी चुप-चाप बालकनी से गली का नज़ारा करने लगीं ।

जगमोहन को सहसा लगा कि उसे भूख लगी है ।

"मैं तो यही चाहता था आप यहीं दोपहरी काट कर जातीं," उस ने कहा, "पर चलना है तो चलिए, देर हो रही है ।"

सत्या जी न जाने क्या सोच रही थीं, चौंक कर मुड़ीं और जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतरने लगीं। पाँच-सात सीढ़ी उतर कर उन्होंने जगमोहन को नमस्कार किया। पर जगमोहन तो उनके पीछे ही उतर रहा था।

"चलिए, आप को अपनी हद पार करा आऊँ!"

"बैठिए-बैठिए, इस धूप में कहाँ जायँगे!" उन्हों ने फिर नमस्कार किया और सीढ़ियाँ उतर गयीं।

"तो परसों मैं आप की प्रतीक्षा करूँ?" जगमोहन ने वहीं खड़े-खड़े पूछा।

"हाँ परसों मैं आऊँगी। देर न कर दीजिएगा।" और फिर एक बार नमस्कार कर वे नीचे सीढ़ियों में ओझल हो गयीं।

०

"आज तो जान ही निकल गयी!" सत्या जी ने मियानी में प्रवेश करते, जैसे अपार थकन और बेबसी से दरी पर बैठते और फिर दीवार का सहारा ले कर लेटते हुए कहा।

"चलिए काम तो हो गया।" जगमोहन बोला, "आप बैठिए, मैं खाने-वाने का प्रबन्ध करता हूँ।"

"पानी का एक गिलास पिलायें तो....ठहरिए मैं खुद ले लेती हूँ!" और उन्हों ने स्वयं उठने का उपक्रम किया।

"नहीं नहीं, आप बैठिए!" और जगमोहन ऊपर को भाग गया।

बर्फ़ के लिए वह भाभी को पैसे दे गया था और इतने दे गया था कि वह अपने लिए भी मँगा लें, इसलिए भाभी ने बर्फ़ मँगा रखी थी। भाई साहब खाना खा गये थे और भाभी स्वयं भी खा चुकी थी। जगमोहन पहुँचा तो भाभी ने कहा, "बड़ी देर कर दी! तुम्हारे भाई साहब तो कब का खाना खा चुके। मैं समझी तुम लोग चातक जी के यहाँ चले गये।"

"ऐसा कैसे हो सकता था भाभी! वहीं बड़ी देर हो गयी। पहले मोहिनी रोड और फिर वहाँ से गुमटी बाज़ार जाना पड़ा। वहाँ देवचन्द कॉलेज की एक हिन्दी शाखा खुली है, उसी में सत्या जी अध्यापिका नियुक्त हुई हैं। मैं तो चाहता था कि वे कल से वहाँ जायँ, पर पण्डित दाताराम अपने उस कॉलेज को, जो क़ैद-खाना मालूम होता है और इसीलिए शायद लड़कियों के लिए चुना भी गया है,

दिखाने पर तुले हुए थे। ख़ैर, सत्या जी का काम हो गया। ज़रा पानी का एक-एक गिलास पियें, फिर खाना खाते हैं। भूख तो सारी सूख गयी इस धूप में।"

भाभी ने गिलासों में थोड़ी बर्फ़ डाली और खाने का आयोजन करने लगीं।

जगमोहन एक गिलास पी कर दूसरा नीचे ले गया। सत्या जी वैसे ही दीवार के सहारे बैठी थीं। पानी का गिलास उस ने उन्हें दिया और स्वयं कुर्सी पर बैठ गया।

पानी पी कर सत्या जी ने गिलास एक ओर रख दिया और फिर दीवार से पीठ लगा कर बैठ गयीं। जगमोहन भोजन का प्रबन्ध करने चला गया।

जब वह खाने की थाली ले कर आया तो उस ने देखा—सत्या जी वहीं आधी लेटी ऊँघ गयी थीं। ऊँघ गयी थीं, पर ऊँघने में भी उनका शरीर उस मोटी खादी की साड़ी में बेतरह लिपटा था। माथे पर पसीने की बूंदें और आकृति पर थकान झलक आयी थी। उन के चेहरे की नसें, जो उसे कर्कश बना देती थीं, उस समय ढीली हो गयी थीं और उस मोटी खादी की साड़ी में उन का छोटा-सा गोरा-गोरा मुख उस फूल-सा लगता था, जो हरे-हरे पत्तों के बदले मरु की रूखी-सूखी धरती पर पड़ा हो। जगमोहन के हृदय में हल्की-सी करुणा जगी। उसने उन्हें जगाना उचित न समझा। बड़े धीरे से, किसी प्रकार की आवाज़ किये बिना, उस ने दोनों थालियाँ तिपाई पर रख दीं और उसी तरह पंजों के बल चलता बाहर निकल आया। उस ने सोचा, इस बीच में लस्सी बना ले।

बाहर जून की गर्म दुपहर आग बरसा रही थी। सामने के मकान की दीवार पर आँखें न टिकती थीं। गली में धूप की तीव्रता लहरियें-से बना रही थी। जगमोहन लस्सी के गिलास लिये अन्दर आया तो उसे वहाँ अँधेरा-अँधेरा-सा लगा। कुछ क्षण बाद उस अँधेरे में सोयी युवती के माथे पर झलकी हुई बूँदें दिखायी दीं। उस के मन में आया, वह पंखा ले आये, उन के पास बैठ जाय, उन्हें धीरे-धीरे हवा कर दे, लेकिन वह उठा और धीरे से बाहर निकल गया। पर उस का पाँव तिपाई से छू गया, थालियाँ एक-दूसरे से टकरा कर धीरे-से खनक गयीं। सत्या जी अचकचा कर उठ बैठीं। साड़ी का छोर उन के हाथ में आ गया। उस से माथे का पसीना पोंछते हुए उन्होंने होंटों में शायद यह कहा, 'मैं कितना थक गयी हूँ!'

जगमोहन मुड़ा, "आप हाथ धोयेंगी ?" उस ने पूछा और फिर बिना उन का उत्तर सुने ऊपर रसोई-घर से जा कर पानी का लोटा और खादी का एक अँगोछा ले आया। बालकनी के बाहर उस ने उन का हाथ-मुँह धुलाया और अँगोछा पेश किया, पर उस से पहले ही उन्हों ने धोती के छोर से हाथ और मुँह पोंछ लिया। उन की आकृति की रुखाई फिर वहाँ आ गयी और प्रकृतिस्थ हो कर वे नीचे दरी पर आ बैठीं।

जगमोहन ने दोनों थालियाँ रख दीं और वे भोजन करने लगे।

"मैं आप को जगाना न चाहता था," जगमोहन ने कहा, "मैं तो जा रहा था कि आप कुछ देर और सो लें।"

"नहीं आप को जगा देना चाहिए था।" सत्या जी तनिक लजा कर बोलीं, "पहले ही खाने को बड़ी देर हो गयी है।"

"मैं देर-सवेर से खाने का आदी हूँ," जगमोहन ने कहा, "कई बार जब भूख लगती है, मित्रों में बड़े ज़ोरों की बहस चल रही होती है, जब बहस खत्म होती है तो खाने का टाइम बीते दो घण्टे हो चुके होते हैं। फिर कई बार घूमते-फिरते और कभी पढ़ते-पढ़ाते खाने की सुधि ही नहीं रहती। आप सो रही थीं, ये कम्बख़्त थालियाँ न खनक उठतीं तो मैं आप को जी भर सो लेने देता।"

"भूख तो मुझे भी लगी थी।"

"पर थकन ज़्यादा थी। यदि आप को आपत्ति न हो तो खाना खा कर यहीं कुछ देर आराम कर लें। धूप भी कड़ी है। दिन ढल जाने पर चली जाइएगा।"

सत्या जी ने इस का उत्तर नहीं दिया। पूर्ववत दृष्टि झुकाये वे अपनी बात सुनाने लगीं कि स्वयं उन को कभी ही समय पर खाना नसीब होता है। कांग्रेस के काम में दिलचस्पी होने के कारण कई बार घूमते-घामते खाने का टाइम गुज़र जाता है। और वे राजनीतिक जीवन के किस्से सुनाने लगीं, जब कांग्रेस-आन्दोलन में खाने-पीने की सुधि बिसर जाती थी।

खाना खत्म हो गया तो जगमोहन ने बालकनी में उन के हाथ धुलाये। फिर वह भाभी से तकिया माँग लाया। उसे दरी पर रख, उसने सत्या जी से कहा कि वे डेढ़-दो घण्टे आराम कर लें, फिर जायँ, उस जलती दोपहरी में जाने से क्या लाभ ? और उन का उत्तर सुने बिना वह मियानी के किवाड़ भेड़ कर ऊपर

चला गया ।

०

साँझ ढल गयी थी, जब सत्या जी ऊपर आयीं । बाहर, जहाँ दिन भर आग बरसती रही थी, कुछ हल्की-हल्की गर्मी लिये हुए ठण्डी बयार चलने लगी थी । कमरे, जो धूप की तीव्रता में ठण्डे लग रहे थे, अब दम घोंटने लगे थे । जगमोहन ने मियानी में जा कर फिर कपड़े बदले, और मियानी बन्द करके ऊपर आया ।

भाभी ने इस बीच दूध की लस्सी बना दी थी । सत्या जी उस के पास ही बैठी थीं । जगमोहन के पहुँचते ही भाभी ने कहा, "तुम सत्या जी का घर देख आना, उन्होंने मुझे मिठाई खाने की दावत दी है—अपनी नौकरी लगने की खुशी में ! एक दिन ले चलना ।"

"क्यों सत्या जी ?" जगमोहन ने वह इतना बड़ा गिलास लगभग एक ही साँस में समाप्त करते हुए पूछा ।

सत्या जी ने लस्सी पीते हुए रुक कर ज़रा-सा सिर हिला दिया ।

"तो अकेले भाभी को दावत दी है ?"

सत्या जी ने गिलास ख़त्म करके उसे फ़र्श पर रखा और तनिक सिर उठा कर एक ऐसी दृष्टि उस पर डाली, जिस में बाहर धीरे-धीरे बढ़ी आने वाली साँझ की-सी ही गर्मी और ठण्डक मिली थी और कहा, "आप यदि भाभी को ले आयेंगे तो एक-दो लड्डू आप को भी मिल जायँगे । चलिए आज घर आप को दिखा दूँ ।" और यह कहते हुए वे मुस्करायीं । यह अजीब बात थी कि भाभी के सामने उन के चेहरे की नसें एकदम ढीली हो जाती थीं और उन की मुस्कान भी जैसे मुक्त हो कर खुल पड़ती थी ।

"बड़ी देर हो गयी है," क्षण भर बाद उन्होंने कहा, 'ऐसी सोयी कि होश न रहा । अब चलूँ !"

और नमस्कार कर वे मुड़ीं । जगमोहन भी उन के पीछे-पीछे सीढ़ियाँ उतर गया ।

सत्या जी सिर नीचा किये चली जा रही थीं । उन की आकृति की कर्कशता, जो भाभी की उपस्थिति में पिघल गयी थी, फिर जम कर वहीं आ गयी थी । गम्भीर बनीं, चेहरे को लगभग धोती के आँचल से छिपाये, वे तेज़-तेज़ चली जा

रही थीं। जाने वे क्या सोच रही थीं ? जाने कुछ सोच भी रही थीं या नहीं ! पर जगमोहन का दिमाग़ अनवरत कुछ-न-कुछ सोच रहा था। जब वह घर से निकला तो मियानी को ताला लगाते हुए उसे ध्यान आया था कि यह छोटी-सी जगह भी कोई रहने के योग्य है। यह अजीब बात है कि पहले उसे कभी इस बात का ध्यान न आया था, पर आज जब उसे सत्या जी को उस दरबे में सुलाना और स्वयं ऊपर जा कर नंगे फ़र्श पर लेटना पड़ा तो पहली बार उसे मियानी की तंगी का आभास मिला। मियानी की बात सोचते-सोचते उस के सामने अपने वर्तमान और भविष्य की समस्या आ गयी। एक समय था जब बी० ए० होते ही नौकरियों के दरवाज़े छात्रों के स्वागत में खुल जाते थे, एक यह समय है कि बी० ए० का महत्व मैट्रिक-जितना भी नहीं रह गया। जगमोहन निम्न-मध्यवर्ग के उन लाखों युवकों में से एक था, जो बचपन में 'बच्चे' और जवानी में 'युवक' नहीं होते, बचपन ही से जिन पर प्रौढ़ता का रंग चढ़ जाता है। जो एक कदम आगे रखते हैं तो दो बार सोचते हैं, फिर पीछे रख लेते हैं और कई बार इसी आगे-पीछे में ज़िन्दगी के दिन पूरे कर देते हैं।

जगमोहन चला जा रहा था और सोच रहा था कि यदि किसी तरह एम० ए० कर ले तो कहीं-न-कहीं लेक्चरर हो सकता है; बी० टी० कर ले तो मास्टर हो सकता है। लेकिन स्कूल के बच्चों को पढ़ाने से उसे कॉलेज के लड़कों को पढ़ाना अच्छा लगता था और उस की साध थी कि वह एम० ए० ही करे ! पर कैसे ? अभी इस सिलसिले में वह कुछ भी तय न कर पाया था।

"क्यों जगमोहन किधर ?"

अपने ध्यान में मग्न जगमोहन सत्या जी के साथ चला आ रहा था, सन्त-नगर कब का पीछे रह गया था, हरिनिवास के निकट ही गली में श्री चातक और शुक्ला जी ने उस का मार्ग रोक लिया।

सत्या जी तनिक आगे बढ़ कर दूसरी ओर मुँह करके खड़ी हो गयीं। शुक्ला जी जगमोहन को देख कर मूँछों में मुस्कराये।

"पण्डित दाताराम से मिलने गये थे। इन को कुछ काम था। इन्हें यहीं गोपालनगर तक छोड़ने जा रहा हूँ।" जगमोहन ने सफ़ाई दी।

"इन का घर जानते हो ?" चातक जी ने पूछा।

"नहीं"

"तो आज इन का घर देख आओ। इस इतवार को मीटिंग है। कार्यक्रम बन गया है। कल छप जायगा। एक प्रति इन को दे देना। पहली मीटिंग है, कुछ रौनक होनी चाहिए।"

"आप इन से कह दीजिए, मैं दे आऊँगा।"

तब चातक जी अपने बालों की लट को पीछे की ओर करते हुए सत्या जी के पास गये। उन्हों ने एक बार खाँस कर उन्हें नमस्कार किया।

बिना सिर उठाये 'नमस्कार' कह, सत्या जी वैसे ही खड़ी रहीं।

"हम तो आज आप की ओर गये थे।"

सत्या जी चुप खड़ी रहीं।

चातक जी फिर खाँसे और बालों की लट को उन्हों ने फिर पीछे किया।

"इतवार को 'संस्कृति-समाज' की पहली बैठक रख रहे हैं। कार्यक्रम बनाने में आप की सहायता लेना चाहते थे, पर मालूम हुआ कि आज आप विद्यालय नहीं आयीं।"

सत्या जी वैसे ही चुप खड़ी रहीं।

चातक जी ने लट को एक बार फिर पीछे किया, एक बार फिर खाँसे और एक पैर से दूसरे पैर के टखने पर होने वाली खुजली को शान्त किया और बोले, "हम चाहते थे कि पहली मीटिंग में आप भी कोई लेख अथवा कहानी पढ़ें।"

इस बार सत्या जी बोलीं, "मेरे पास कोई नयी चीज़ नहीं और फिर मुझे पढ़ने का अभ्यास भी नहीं।" उन्हों ने निगाहें उसी प्रकार धरती में जमाये हुए कहा।

"मालती में आपकी रचना छपी है, वही पढ़ दीजिए।"

"इस बार यदि मुझे क्षमा कर देते तो...." सत्या जी ने कहना चाहा।

"आप महिला-मन्त्री हैं," चातक जी बात काट कर बोले, "आप न पढ़ेंगी तो कैसे चलेगा। इस बार आप पढ़ दीजिए, फिर दूसरी लड़कियाँ तैयार हो जायँगी।"

सत्या जी चुप रहीं।

"मेरी ख़ातिर इस बार इतना कष्ट ज़रूर कीजिए।"

"बहुत अच्छा।"

"मैं जगमोहन के हाथ कार्यक्रम की प्रति भेज दूँगा। आप आइएगा। अपनी सहेलियों को भी साथ लाइएगा।"

"जी बहुत अच्छा।"

अब चातक जी क्या कहें? नमस्कार करके वे मुड़े। जगमोहन से उन्हों ने कहा कि वह भी कुछ पढ़े। वे उसका नाम लिख रहे हैं। चलते-चलते रुक कर उन्होंने इतना और कहा, "फिर एक काम भी है तुम्हारे लिए। सौ-दो सौ तुम्हें मिल जायँगे। शाम को आना तो बात करेंगे।"

और वे शुक्ला जी को ले कर चल दिये। शुक्ला जी ने जाते-जाते जगमोहन के कन्धे पर हाथ मारा।

जगमोहन का मुँह लाल हो गया। उसे क्रोध भी आया और उस व्यक्ति के प्रति घृणा भी हुई, पर बिना कुछ कहे वह चल दिया।

गोपाल रोड के अन्तिम सिरे पर गुरु तेग़बहादुर रोड थी। और तेग़बहादुर रोड के लगभग अन्तिम सिरे पर सत्या जी के चाचा का मकान था। दरवाज़े के एक ओर 'बावा सुन्दरलाल बेदी' की प्लेट लगी थी, जिस पर गाय की गोबर सनी दुम का निशान था। गाय कदाचित अभी बाहर से चर के न आयी थी और नाँद ख़ाली पड़ी थी।

सत्या जी ने दरवाज़ा खटखटाया।

दरवाज़ा खुला तो जगमोहन का दिल धक् से रह गया। किवाड़ों को खोलते हुए पूरे दरवाज़े पर दोनों हाथ फैलाये, जैसे अन्दर जाती हुई सत्या जी को रोकती हुई-सी, एक लड़की खड़ी थी। मँझला कद, छरहरा बदन, रंग गोरा और दायीं बाँह पर छाये, लम्बे, सुकोमल केश—पहली नज़र में उसे सत्या जी और उस लड़की में कुछ ज़्यादा अन्तर दिखायी न दिया, लेकिन हरे किनारे की महीन धोती और पॉपलिन के ब्लाउज़ में वह उसे अत्यन्त भली मालूम हुई।

"कहिए क्या कर आयीं?" लड़की ने सत्या जी से पूछा।

दूसरे क्षण उस ने जगमोहन को देखा और यद्यपि उसके हाथ आप-से-आप नीचे आ गये, पर बालों को पीछे हटा कर साड़ी सिर पर करने में उसने किसी

तरह की घबराहट से काम नहीं लिया। आँचल को इतमोनान से सिर पर करते हुए उसने उन दोनों के गुज़रने को जगह दे दी।

जगमोहन सोचता आया था कि वह बाहर से मकान देख कर ही चला आयेगा, लेकिन जब "सब ठीक हो गया, चलो बताती हूँ," कहती हुई सत्या जी ड्योढ़ी में बढ़ीं तो वह चुप-चाप उनके पीछे हो लिया।

ऊपर जा कर सत्या जी ने जगमोहन के लिए आराम-कुर्सी बिछा दी और उस लड़की से कहा, "दुरो, ज़रा लस्सी का गिलास तो बना!"

"मैं तो अब चलूँगा जी।"

"ज़रा बैठिए, लस्सी का एक गिलास पीते जाइए!" और वे बिना उत्तर सुने अन्दर चली गयीं।

यह कमरा निम्न-मध्यवर्ग के घर का ऐसा कमरा था, जिसमें पलँग भी बिछा रहता है और कुर्सियाँ भी। एक ओर बैठने के लिए एक-दो मूढ़े और पटरे पड़े थे। इधर-उधर बच्चों के सस्ते खिलौने बिखरे थे। दीवारों पर भड़कीली धार्मिक तसवीरें लगी थीं। जगमोहन के पीछे एक सिगर मशीन पड़ी थी। अँगीठी पर पुराने चौखटों में जड़े हुए दो चित्र थे। इनमें से एक में बड़ी-बड़ी मूँछों वाला एक व्यक्ति बेतरह अकड़ा बैठा था। घुटनों पर उसके एक बच्चा था। साथ उसके बड़े बेढंगे तरीके पर साड़ी पहने एक औरत बैठी थी, जिसकी गोद में एक और बड़ा बच्चा था। जगमोहन वह फ़ोटो देख ही रहा था कि सत्या जी चित्र की उस महिला को ले कर आ गयीं। "यह मेरी चाची जी हैं," उन्होंने परिचय दिया।

जगमोहन ने नमस्ते की। चित्र की अपेक्षा यद्यपि उम्र में वे बड़ी थीं, पर रंग गोरा था और वे सुन्दर लगती थीं।

वे उस के सामने आ कर बैठ गयीं। जगमोहन क्या बात करे, उस की समझ में न आया। पर सत्या जी ने उसकी मुश्किल आसान कर दी और वे उन्हें अपनी नौकरी लगने का किस्सा सुनाने लगीं।

तभी वह लड़की लस्सी का गिलास ले आयी।

"लस्सी तो मैं पी कर चला था।" जगमोहन ने कहा, पर उस ने गिलास थाम लिया।

"दुरो चाची जी की भांजी है, देवचन्द कॉलेज में पढ़ती है।" सत्या जी ने परिचय दिया।

"किस क्लास में पढ़ती हैं ?" चेतन ने पूछा। जिस गाँव में जाना नहीं, उसकी राह काहे पूछना, यह बात कदाचित वह भूल गया।

"बी० ए० में !" दुरो ने कुर्सी पर बैठते हुए उत्तर दिया। जगमोहन की निगाहें फिर उससे चार हुईं। उसे लगा कि उन निगाहों में असाधारण निर्भीकता है और जैसे वे उसे भेद कर उसके अणु-अणु की जानकारी पा रही हैं। उसका मुँह लाल हो गया और उसकी निगाहें झुक गयीं। लस्सी का गिलास आधा पी कर उसने रख दिया और उठा।

"अच्छा जी, मैं अब चलता हूँ।"

तीनों उठ खड़ी हुईं। जगमोहन ने बिना किसी एक ओर देखे तीनों को नमस्कार किया और चल दिया। लेकिन सत्या जी उसके पीछे-पीछे आयीं। दरवाज़े में आ कर उन्होंने उसे फिर नमस्कार किया और कहा कि चातक जी से मीटिंग की विज्ञप्ति मिले तो वह दे जाये, वे कोशिश करेंगी कि कुछ छात्राएँ भी समाज की बैठक में आ जायँ।

"जी बहुत अच्छा !" कह कर वह सीढ़ियाँ उतर गया।

चार

प्रातः के साढ़े चार बजे थे। दूर कहीं मुर्ग़ ने प्रातः की अज़ान दी। दुरो की नींद उचटी। उसने एक बार अध-खुली आँखों से उस शीतल कुहासे को देखा और नींद ने जैसे दुगने भार से उसकी पलकों को बन्द कर दिया।

रविवार था और घर के समस्त प्राणी बड़ी बेफ़िक्री से सो रहे थे। न बावा* जी को दफ़्तर जाना था, न सत्या जी और बच्चों को स्कूल। गृहिणी भी निश्चिन्त थी, नन्हा बच्चा प्रातः उठा था तो दूध पीता-पीता सो गया था। गृहिणी अपने तन-बदन की सुधि खो कर सोयी हुई थी। पर गर्मियों की सुबह

*बावा = पंजाब की एक उप-जाति, जिसके पूर्वज शायद किसी मठ या मन्दिर से सम्बन्धित रहे होंगे।

थी। चार बजे ही से गली जग उठी थी। तभी उनकी अपनी गाय ज़ोर से रँभा उठी। गृहिणी ने करवट ली। बच्चा जग गया, पर रोया नहीं। कुछ क्षण वह चारपाई के आधे भाग में खेलता रहा, फिर धीरे-धीरे वह अपनी माँ की छाती पर चढ़ने लगा। गृहिणी ने स्वप्न ही में देखा कि एक बिल्ली धीरे-धीरे उसकी छाती पर चढ़ी आ रही है। स्वप्न ही में एक चीख़ मार कर उस ने करवट बदली। उस के कपड़ों से उलझा बच्चा करवट के साथ ही उसके ऊपर से होता हुआ फ़र्श पर जा गिरा और प्रातः के मधुर सन्नाटे को अपने रुदन से मुखरित करने लगा।

गृहिणी की वह चीख़ जागृतावस्था की चीख़ से एकदम भिन्न थी। नींद के उस अपेक्षाकृत बढ़े हुए डर ने उसे कुछ विचित्र सानुनासिक तीखापन प्रदान कर दिया था। वह तीखापन नींद में भी, पास ही लेटी दुरो के कानों द्वारा प्रवेश कर, उस के सोये मस्तिष्क को झकझोर गया और फिर वह बच्चे का अनवरत रुदन....गृहिणी ही उछल कर न उठी, दुरो भी उछली और धीरे-धीरे पूरा घर जाग उठा। गृहिणी ने बच्चे को छाती से लगा कर झुलाते हुए, अपने स्वप्न की बात बतायी तो बावा सुन्दरलाल अपनी दरियाई घोड़े की-सी मूँछों पर हाथ फेरते हुए ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे। उन की हिचकियों-जैसी हँसी रुक-रुक कर आती थी, ठीक वैसे ही, जैसे कनस्तर के छोटे गोल छेद से पिघला घी रुक-रुक कर बाहर उछलता है।

परन्तु द्रौपदी के पास इस समय अपने मौसा की हास्यास्पद हँसी को देखने का समय न था। रात सोते वक्त उस ने सोचा था कि वह प्रातः चार बजे उठेगी, गाय की सानी-पानी और घर की सफ़ाई आदि ख़त्म कर छै बजे से निकल जायगी और बारह बजते-बजते महिला महाविद्यालय, देवचन्द कॉलेज और लाहौर कॉलेज फ़ॉर विमेन के होस्टलों तक हो आयेगी। हरीश ने उस के ज़िम्मे पचास रुपये की पुस्तकें लगायी थीं और वह अभी तक एक भी पुस्तक न बेच पायी थी।

वह बारह वर्ष की थी जब उस के माता-पिता की मृत्यु हो गयी थी। उस की मौसी ने अपनी मरणासन्न बहन के हाथ से दुरो को यह कह कर ले लिया था कि उसे वह अपनी बच्ची की तरह पालेगी। लेकिन अपनी बहन की बच्ची को अपनी बच्ची कहना और बात है और समझना और! द्रौपदी से उस की मौसी

उस समय तक बड़ा प्यार करती रही, जब तक उस के अपना बच्चा नहीं हुआ। फिर धीरे-धीरे दुरो की स्थिति घर में क्रीत दासी की-सी हो गयी। पिता बीमे के रूप में पाँच हज़ार रुपये छोड़ गये थे, जो दुरो के वयस्क होने पर उसे मिलने वाले थे। उसकी माँ अपनी बहन से मरते समय यह कह गयी थी कि वह उसे कम-से-कम बी० ए० तक पढ़ा दे, पाँच हज़ार में से तीन हज़ार इस सम्बन्ध में खर्च कर दे और दो हज़ार उस की शादी पर दे दे। उस की मौसी ने उस की माँ से कहा था कि वह उसे अपनी बेटी की तरह पढ़ायेगी, पर जब उस के अपने बेटे-बेटियाँ हो गये तो दुरो की पढ़ाई उसे खटकने लगी। दुरो मिडल में छात्र-वृत्ति पा गयी। फिर मैट्रिक में भी। तब मौसी से उस ने कह दिया कि बीमे का रुपया मिलेगा तो सब-का-सब वह उसके हाथ में रख देगी। इस प्रकार पढ़ाई के सम्बन्ध में उस ने मौसी की सहानुभूति प्राप्त कर ली, पर जो आश्रय उस 'अबला' को इस घर में प्राप्त था, उस का बदला उसे मौसी के बच्चों की देख-भाल और घर का सारा काम-काज करके अदा करना पड़ता था।

इस सारे वातावरण में उस के मौसा का स्नेह उस का एक-मात्र सम्बल था। अपनी ऊबड़-खाबड़-सी आकृति और दरियाई घोड़े की-सी मूँछों के बावजूद हृदय बावा जी ने बड़ा सरल, सदय और स्नेहशील पाया था। उन के अपने बच्चे पढ़ने-लिखने के मामले में एकदम कोरे थे। अनाथ दुरो जब अपनी कक्षा में सर्व-प्रथम रहती तो बावा जी उस की पीठ ठोंकते और अपने बच्चों को फटकारते हुए उसकी प्रशंसा करते। दुरो की प्रगति पर उन्हें बड़ा गर्व होता। समय निकाल कर वे उसे पढ़ाते और मित्रों और पड़ोसियों में उस की प्रशंसा करते न थकते। पर इधर जब से दुरो सयानी हो गयी थी, बावा जी की यह सरल प्रशंसा भी उस के हक में बुरी साबित हो रही थी। जब कभी मौसा अपनी पत्नी की उपस्थिति में दुरो की प्रशंसा करते, मौसी चार जली-कटी सुना कर उसके अवगुण गिनाने बैठ जाती।

अमृतसर से सत्या जी के लाहौर आने पर उस की मुश्किल कुछ आसान हो गयी थी। सत्या जी से उस का सहेलपना-सा हो गया था और उन के कारण यह घर से बाहर की सरगर्मियों में भाग ले कर अपने मन के बोझ को हल्का करने लगी थी। घर के झगड़ों से उसे सत्या जी के पास त्राण भी मिलता था और

नैतिक बल भी ।

छै बजते-बजते उसने घर की भाड़ू-बुहारी, गाय की सानी-पानी निबटा, दही मथ डाला और स्नानादि से निवृत्त हो कर, बासी रोटी के साथ छाछ का एक कटोरा पी, पुस्तकों का बण्डल बग़ल में दबाया और चल दी ।

बड़े कमरे की खिड़की में सत्या जी अन्यमनस्क-सी खड़ी बाहर तक रही थीं । दुरो को इतनी सुबह तैयार हो कर जाते देख, उन्हों ने मुड़ कर पूछा, "किधर ?"

"ज़रा महिला महाविद्यालय तक जा रही हूँ ।"

"जल्दी आना, 'संस्कृति-समाज' के सम्बन्ध में भी दो-चार जगह चलना है । वे दस बजे तक कार्यक्रम और निमन्त्रण-पत्र देने को कह गये हैं । शाम को मीटिंग है, लाजपतराय हॉल में । तुम्हारी सहेलियों से भी मिलना है ।"

"मैं उन्हें अपनी ओर से निमन्त्रण दे आऊँगी । सब न सही तो कुछ अवश्य आ जायेंगी । मैं बारह बजे तक लौट आऊँगी ।"

०

ग्यारह बज चुके थे, जब दुरो कॉलेज फ़ॉर विमेन के होस्टल से निकली । वह थक गयी थी, पर बड़ी प्रसन्न थी । इन चार घण्टों के अन्दर-अन्दर तीस रुपये की पुस्तकें वह बेच आयी थी । फिर उस को आशा थी कि जहाँ-जहाँ वह हो आयी है, वहाँ धीरे-धीरे मैदान बनता जायगा ।

यद्यपि देर हो रही थी और उस ने सत्या जी को शीघ्र ही पहुँचने का वचन दिया था, पर अपनी इस सफलता की बात हरीश तक पहुँचाने का मोह वह छोड़ न सकी थी और काम निबटा कर वापस गोपालनगर चलने के बदले ग्वालमण्डी की ओर चल दी थी, जहाँ श्याम गली के एक मकान में राष्ट्रीय स्टडी सरकल का दफ़्तर था । वास्तव में हरीश वहाँ रहते थे और नीचे कमरे में सरकल का सारा काम होता था ।

हरीश कौन थे, उन का अतीत कैसा था, यह सब वह कुछ भी न जानती थी । एक दिन सत्या जी और अपनी सहेली चम्पा के साथ वह विद्यार्थियों की एक सभा में गयी थी और उस ने पहली बार उन्हें वहाँ देखा था । फ़ॉर्मन क्रिश्चियन कॉलेज के एक प्रोफ़ेसर को उन की राजनीतिक अभिरुचि के कारण अलग कर दिया गया था । लड़कों ने हड़ताल कर दी थी । इसी बात को ले कर

विरोध-स्वरूप विद्यार्थियों की सभा हुई थी। राजनीति में छात्रों और अध्यापकों के भाग लेने के प्रश्न को ले कर कॉलेज के अधिकारियों के विरुद्ध बड़े ज़ोरदार भाषण हो रहे थे। दुरो हरीश के भाषण से बड़ी प्रभावित हुई थी। वह स्वप्न में चलती हुई-सी घर आयी थी और रात सोयी तो हरीश का भाषण, उन का गम्भीर स्वर और उन की पीली-पीली आकृति उस की आँखों में घूमती रही थी।

चम्पा के साथ वह स्टडी-सरकल में गयी थी और जब नयी पुस्तकें आयीं और हरीश ने सरकल के सदस्यों से अधिक-से-अधिक मूल्य की पुस्तकें बेचने को और इस प्रकार सरकल के हमदर्द बनाने के लिए कहा, तो जहाँ किसी ने दस और किसी ने बीस की पुस्तकें बेचने का ज़िम्मा लिया, वह पचास रुपये की पुस्तकें ले आयी थी।

हरीश उस समय अपने एक साथी श्यामलाल के साथ तीन-चार दूसरे अनपढ़ व्यक्तियों से किसी ट्रांसपोर्ट कम्पनी के अधिकारियों की ज़्यादती के बारे में ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे। दुरो को आया जान, हरीश ने हाथ का पंखा उस की ओर बढ़ा कर कोने की ओर संकेत कर दिया। बिना कुछ कहे दुरो कोने में ढेर हो गयी। उस ने अपने पैर पसार लिये; दीवार से पीठ लगायी और ज़ोर-ज़ोर से पंखा करने लगी। फिर कुछ क्षण बाद उस ने टाँगें समेट लीं। पैरों को अपनी साड़ी के छोर से ढँक लिया और आँचल से मुँह का पसीना पोंछ, धीरे-धीरे हवा करने लगी।

बातों की रौ में हरीश दुरो के आगमन की बात बिल्कुल भूल गये थे। जब वे उन लोगों के साथ उठ कर जाने लगे तो श्यामलाल ने हरीश का ध्यान उस की ओर आकर्षित किया। हरीश उस के पास आये, "मैं अरसे से यहाँ ट्रांसपोर्ट यूनियन खोलने की फ़िक्र में हूँ।" उन्होंने दुरो से कहा, "आज अवसर उपस्थित हुआ है, मैं ज़रा जल्दी में हूँ। कहिए ?"

दुरो का मुँह लाल हो गया। आवाज़ गले में अटकती-सी लगी। किसी तरह सचेत हो कर पूर्ववत फ़र्श में निगाहें गाड़े उस ने कहा, "मैं तीस रुपये की किताबें बेच आयी हूँ। और रूमाल में बँधे रुपये निकाल कर उसने हरीश के हाथ में रख दिये।

'शाबाश !' हरीश ने उसकी पीठ को थपथपा दिया। "चार-छै ऐसे उत्साही

साथी मिल जायँ तो क्या बात है !"

"आज संस्कृति-समाज की मीटिंग है।"

"संस्कृति-समाज !"

"यहाँ के लेखकों और कवियों ने एक समाज स्थापित किया है, उस की बैठक है। मैं आपको निमन्त्रण देने आयी थी।"

"मैं तो इधर व्यस्त हूँ !"

"तो मैं आज वहाँ जाऊँ ? मैं वहाँ सम्पर्क स्थापित करना चाहती हूँ। स्टडी-सरकल की मीटिंग में न आ सकूँगी।"

"ठीक है।" और हरीश उस की पीठ को थपथपा कर उन लोगों के पीछे उतर गये।

दुरो कुछ क्षण चुप खड़ी रही, फिर तेज़-तेज़ निकल गयी।

०

"यह तुम बारह बजे आयी हो ?" घर में प्रवेश करते ही दुरो को सत्या जी के शब्द और हँसी सुनायी दी।

"चार-छै जगह गयी बहन जी, देर हो गयी। मोहनलाल रोड से ताँगे पर आयी हूँ, नहीं डेढ़ बज जाता।" दुरो ने सफ़ाई दी।

"मोहन जी दो घण्टे से आये बैठे हैं। तुम्हारी ख़ातिर मैंने इन्हें रोक रखा है। चार बार उठ चुके हैं, पाँचवीं बार उठा चाहते हैं।" और सत्या जी हँसीं।

"आज समाज की पहली बैठक है, मुझे वहाँ कुछ तो पहले पहुँचना ही चाहिए।" जगमोहन कुछ खिन्नता से हँस कर बोला।

"अभी तो एक बजा है।" दुरो ने कहा।

जगमोहन ने दृष्टि उठा कर देखा। पर दुरो की निगाह उस की ओर न थी। अँगीठी पर पड़ा पंखा उठा कर वह हवा करने लगी।

जगमोहन ने फिर हँसने का उपक्रम किया, "जी एक तो बजा है, पर मैंने तो अभी खाना भी नहीं खाया और मुझे नीरव जी को सूचित करना है। उन के घर गया तो वे मिले नहीं। प्रोग्राम तो छोड़ आया हूँ, पर पहली बैठक है, मैं चाहता हूँ सब आ जायँ !"

"तभी तो मैंने कहा था कि आप यहीं खाना खा लीजिए, कब घर जायँगे,

कब खाना खायँगे, कब नीरव जी से मिलेंगे ? यहाँ खाना खा लीजिए, दस-बीस मिनट आराम कीजिए, फिर सीधे नीरव जी के घर चले जाइए !"

जगमोहन चुप रहा । एक-दो बार सत्या जी ने पहले भी खाना वहीं खाने के लिए कहा था, पर उस ने इनकार कर दिया था, इस बार वह चुप रह गया । उसके मौन को सम्मति का लक्षण समझ कर सत्या जी उठीं और उन्हों ने दुरो से कहा, "तुम ज़रा पानी ला कर मोहन जी के हाथ धुलाओ, मैं खाना लाती हूँ ।"

"आइए, हाथ धो लीजिए !" दुरो पानी का लोटा और तौलिया ले आयी ।

जगमोहन उठा । दुरो के पीछे-पीछे वह सीढ़ी की दूसरी ओर छत पर गया, जहाँ इधर कोने में एक नाली और छोटा-सा खुरा बना था और उधर चारपाइयाँ अपने मैले-कुचैले बिस्तरों के साथ पंक्ति-बद्ध पड़ी सूख रही थीं । गृहिणी के बिस्तर की चादर पर बड़े-बड़े गोल दाग़ पड़े थे, सब बिस्तरों के तकिये तेल से सने थे, परन्तु इस तीक्ष्ण धूप में सूखने के बाद उन में बीमारी के कीटाणु रह जाते होंगे, इसकी सम्भावना नहीं थी । हाँ आँखों को अच्छे न लगें, यह और बात है । पर निम्न-मध्यवर्ग की आँखें इतनी नाज़ुक नहीं कि ये गंदी चादरें या तकिये उनमें खटकें । उनकी 'खटक' का स्तर भिन्न है । धुली-धुलायी चादरें बिस्तरों पर बिछी हों और घर में कोई बच्चा न हो तो उन को वह सब सफ़ाई बड़ी कष्टप्रद लगेगी और यदि घर में अधनंगे, नंगे, दुखती आँखें और बहती नाक लिये हुए बच्चे रिरिया और किलबिला रहे हों तो फिर चादरों के गोल दाग़ और तकियों की मैल भी उन्हें भली मालूम होगी ।

जगमोहन सफ़ेद्र पैंट और धारीदार कमीज़ पहने था, जिस के कालर और कफ़ में कल्फ़ लगा था । उसे इस बात का डर था कि पानी के छींटे छत के गंदे फ़र्श से उछलें तो उस की पैंट न ख़राब हो जाय, इसलिए वह नाली पर उकड़ूँ बैठ गया । दुरो उसके हाथ धुलाने को झुकी तो उस की एक चोटी कन्धे से फिसल कर जगमोहन की अँजुली पर आ गिरी । दुरो ने तत्काल बायें हाथ से फिर उसे फेंक दिया । केशों की इस उद्दण्डता से उस के मुख पर लाली दौड़ गयी, पर वह लाली लज्जा के कारण थी अथवा घाम के, इसे जगमोहन न जान सका, क्योंकि दुरो की आँखें उस की ओर न थीं । हाँ उस का अपना मुख लज्जारुण हो उठा ।

हाथ धो कर वह कमरे में वापस आया तो सत्या जी ने खाना ला कर छोटी-सी तिपाई पर रख दिया।

"आप ने खाना नहीं खाया ?" जगमोहन ने पूछा।

"आप खाइए, हम भी खाते हैं।"

"बड़ी देर हो गयी है, आप भी खा लीजिए !"

"नहीं आप खाइए !" सत्या जी ने कहा। फिर उन्होंने दुरो को आवाज़ दी कि वह खाना खा ले। छै बजे की गयी हुई है, भूख लग आयी होगी उसे।

"आप खाइए तो खायें !" दुरो ने रसोई-घर से आवाज़ दी।

"नहीं-नहीं, तुम खा लो।"

थाली में उड़द की दाल और चावल थे। जगमोहन को न चावल पसन्द थे, न उड़द। उड़द की दाल यदि काफ़ी घी और प्याज़ से छौंकी गयी होती और दुरो उससे खाने का आग्रह करती तो शायद उसे उड़द की दाल अखरती, न चावल....पर थाली में आम के अचार की एक फाँक और भुने हुए पापड़ का एक टुकड़ा भी रखा था और उसे भूख लगी थी, इसलिए जगमोहन ने भात में दाल मिला कर ज़रा-सा अचार और पापड़ ले, पहला कौर मुँह में डाला तो उसे बड़ा स्वादिष्ट लगा।

उस ने खाना खा लिया तो इस बार सत्या जी ने उसके हाथ धुलवाये।

"आप स्वयं ही पहुँच जायँगी न ?" जगमोहन ने पूछा, "लाजपतराय हॉल का कमेटी-रूम तो आप ने देखा ही होगा, वहीं मीटिंग होगी।"

"जी हाँ, हम पहुँच जायँगे, आप चिन्ता न कीजिए। अभी खाना-वाना खा कर हम दोनों अपनी सहेलियों के यहाँ जायँगी और उन को लेते हुए समय पर लाजपतराय हॉल पहुँच जायँगी।"

हाथ धो कर जगमोहन वापस कमरे में आया, उस ने अपना हैट उठाया और बोला, "लीजिए आप अब खाना खाइए, बड़ी देर हो गयी है।"

"एक मिनट बैठिए !" सत्या जी ने कहा, "मैं दुरो से चाबी ले कर आप को चन्दा दे दूँ।"

"साथ लेती आइएगा, अब काहे कष्ट करती हैं।"

"नहीं कष्ट क्या, अभी लाती हूँ।"

और वे चली गयीं। चाबी ले कर आयीं तो चाबी अलमारी के ताले में घुमाते-घुमाते उन्हों ने चाबियों के गुम होने का क़िस्सा सुनाना आरम्भ किया। कहानी सुनाते तथा उसे चन्दे के रुपये देते-देते और बीस मिनट सत्या जी ने लगा दिये। दुरो अब भी नहीं आयी। आख़िर जगमोहन ने लम्बी साँस ली और सत्या जी को नमस्कार किया।

०

लाजपतराय हॉल के दो गेट थे। एक सनातनधर्म हाई स्कूल के सामने का, जो सीधा हॉल के बरामदे में खुलता था और दूसरा डी० ए० वी० कॉलेज होस्टल के सामने का, जो उस अहाते में से हो कर हॉल को जाता था, जहाँ 'पीपल्ज़-सोसाइटी' के सदस्य रहते थे। सत्या जी और दूसरी सहेलियों के साथ दुरो इसी अहाते की ओर से आयी।

अहाते को पार कर, वे लाजपतराय हॉल के बरामदे में दाखिल हुईं और कोने में लाइब्रेरी को जाने वाले ज़ीने की ओर बढ़ीं, क्योंकि उधर ही से ऊपर कमेटी-रूम को रास्ता जाता था।

"आप लोग आ गये!" सहसा उन के कानों में आवाज़ पड़ी। दुरो ने देखा, हॉल के सामने वाले दरवाज़े की ओर से सिल्क का कुर्ता और पतली महीन धोती पहने जगमोहन उन्हीं की तरफ़ आ रहा है।

"आइए, आइए, मैं आप ही लोगों की प्रतीक्षा कर रहा था।" यह कहते हुए वह उनके आगे-आगे सीढ़ियों पर हो लिया।

लाजपतराय हॉल का कमेटी-रूम काफ़ी बड़ा कमरा था। छत किंचित नीची थी, पर खुला यथेष्ट था। छत में पंखा घरघरा रहा था, नीचे दरी बिछी हुई थी। काफ़ी लोग आ गये थे। शान्ता बहन वहाँ अपने विद्यालय की छात्राओं के साथ पहले से बैठी थीं। उनके पति श्री भगतराम दूसरी ओर पुरुषों में विराज-मान थे। जगमोहन के साथ सत्या जी को आते देख कर वे तनिक खाँसे और उन्हों ने अपने परदाँत दिखा दिये। वे सब एक ओर बैठ गयीं तो जगमोहन दूसरे लोगों के स्वागतार्थ वापस चला गया। तब कवि चातक अपनी जगह से उठ कर दायें हाथ से अपने बालों को पीछे हटाते हुए उन की ओर आये। हाथ में उन के एक काग़ज़ था। "कहिए आप लोग आ गये?" उन्हों ने हँसते हुए कहा।

दुरो के जी में आयी, कहे—आप देख तो रहे हैं—पर वह चुप रही। प्रकट है कि सत्या जी ने भी इस का उत्तर देना ज़रूरी नहीं समझा। तब स्वयं ही कवि ने कहा, "कहिए कुछ लायीं?"

"मालती वाली रचना लायी हूँ।" उन्हों ने वैसे ही दरी की ओर देखते हुए कहा, "नया कुछ लिखने का समय तो नहीं पा सकी। और फिर सभा में पढ़ने-पढ़ाने का मुझे अभ्यास नहीं।"

"ठीक है, ठीक है," चातक जी ने कहा, "पढ़ती रहोगी तो अभ्यास भी हो जायगा। इसीलिए तो समाज की स्थापना की है।" और काग़ज़ पर उन का नाम लिखते हुए बोले, "आप की सहेलियों में से कोई कुछ पढ़ेगी?" और उन्हों ने एक दृष्टि उन सब की ओर डाली। लड़कियों की निगाहें दरी पर जम गयीं। केवल दुरो ने दृष्टि भर कर कवि की ओर देखा। उस दृष्टि की तेज़ी और निस्संकोचता से कवि कुछ सकपका गये। उन का हाथ अनायास अपने बालों पर चला गया और वे दायें पैर से बायें टख़ने की खुजली मिटाने लगे। फिर कुछ सम्हलकर, तनिक मुस्कराते हुए उन्होंने दुरो से कहा, "कहिए आप कुछ सुनायेंगी।"

"यदि हम सब सुनाने लगीं तो आप लोगों को कौन सुनेगा?" सहसा दुरो ने कहा।

चम्पा ने उसे ठहोका दिया और दोनों अपनी-अपनी साड़ी के छोर में मुँह दे कर हँस पड़ीं।

तभी नीरव जी अपने चदरे को सम्हालते, पान चबाते और होंटों के बायें कोने से मुस्कराते हुए आ गये और कमरे में 'नमस्कार,' 'नमस्कार' का शोर मच गया। नीरव जी मुस्कराते और सब के अभिवादन का उत्तर देते हुए दरी पर आगे आ कर बैठ गये। दरी के उस सिरे पर एक मेज़ और दो कुर्सियाँ भी रखी थीं। कुछ लोगों ने नीरव जी से, समाज के स्थायी प्रधान की हैसियत से, कुर्सी पर बैठने को कहा। उन्हों ने एक-दो बार, 'नहीं, नहीं, मैं यहीं अच्छा हूँ,' कहते हुए कनखियों से कुर्सी की ओर देखा और तब मित्रों के विवश करने पर जा कर बैठ गये। तभी विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष डॉ० घनानन्द की अर्दल में प्रो० ज्योतिस्वरूप आये। जगमोहन उनके आगे-आगे था। सारे हॉल में फिर

अभिवादन का शोर मच गया। जब सब लोग बैठ गये तो धर्म जी ने प्रोफ़ेसर स्वरूप के कान में कुछ मन्त्र फूँका। उन्हों ने उठ कर डॉ० घनानन्द का नाम प्रधान के रूप में प्रस्तावित किया। नीरव जी ने इस प्रस्ताव का सोल्लास अनुमोदन किया और डॉक्टर घनानन्द, जिनके अगले तीन दाँत टूटे हुए थे, नीरव जी के साथ कुर्सी पर आ विराजे और बैठक का कार्यक्रम आरम्भ हो गया।

o

सबसे पहले श्री धर्मदेव वेदालंकार ने 'संस्कृति-समाज' की स्थापना के सम्बन्ध में अपने विचार 'उपस्थित महानुभावों के समक्ष' रखे और इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की कि उसका आरम्भ डॉ० घनानन्द जैसे प्रकांड विद्वान के हाथों हो रहा है।

उन के बाद कवि चातक ने अपने 'उद्गार' व्यक्त किये कि किस प्रकार वे 'संस्कृति-समाज' के संस्थापन का स्वप्न देखा करते थे और आज उस स्वप्न के सत्य होने से जितनी प्रसन्नता उन्हें है, उतनी शायद किसी को न होगी। समाज की पहली बैठक में यथेष्ट संख्या में कोमल-वर्ग की उपस्थिति निश्चय ही समाज के उज्ज्वल भविष्य की परिचायक है। भारतीय संस्कृति में आदि काल से स्त्रियाँ पुरुषों के साथ योग देती रही हैं। उन्होंने गार्गी की मिसाल दी जो वैदिक युग की प्रख्यात ब्रह्मवादिनी थी; लीलावती का उदाहरण दिया जो बड़ी भारी गणितज्ञ थी; दुर्गाबाई तथा लक्ष्मीबाई का उल्लेख किया, जिनकी वीरता की चर्चा आज भी घर-घर है और कहा कि निकट अतीत में भारत की नारी ने जो पुरुष का साथ देना छोड़ दिया—कई कारणों से जिसे छोड़ने पर वह विवश हुई—उस से भारत को कम क्षति नहीं उठानी पड़ी। अब नारी घर की चहारदीवारी से निकल कर राजनीतिक और सांस्कृतिक मोरचों पर पुरुषों के कन्धे-से-कन्धा मिला कर योग दे रही है, यह भारत की उन्नति का बड़ा शुभ लक्षण है और इसे देख कर कवि चातक का हृदय हर्ष से ओत-प्रोत हुआ जा रहा है।

कवि चातक के बाद शुक्ला जी समाज को अपनी 'शुभाकांक्षाएँ प्रदान करने के लिए' खड़े हुए। पर वे क्या कह गये, दुरो ने वह सब नहीं सुना। वह सत्या जी के पीछे बैठी 'यूरोप की स्वतन्त्र नारी' पढ़ने में व्यस्त रही। कल्पना-ही-कल्पना में वे दिन वह देखती रही, जब भारत में स्त्री को सचमुच पुरुष के बराबर का

अधिकार प्राप्त होगा। कवि चातक 'संस्कृति-समाज' में कोमल-वर्ग की उपस्थिति पर हर्षातिरेक से मरे जा रहे थे, किन्तु दुरो जानती थी कि उन की पत्नी घर के कुएँ में बन्द सब तरह से विवश पड़ी है। चातक जी ही क्या, दुरो जानती थी कि शुक्ला जी, नीरव जी, डॉ० घनानन्द, प्रो० स्वरूप और अन्य लगभग सभी महानुभावों की पत्नियाँ घर की चक्की में पिसी जा रही हैं और वह उन दिनों के स्वप्न देख रही थी, जब जीवन के हर क्षेत्र में नारी पुरुष के कन्धे-से-कन्धा और पग-से-पग मिला कर चलेगी और पुरुष उसे सीता-सावित्री के आदर्श से बहकायेंगे नहीं, सचमुच जीवन-संगिनी, सहचरी और मन्त्रिणी बनायेंगे।

तभी शुक्ला जी बैठ गये। श्री धर्मदेव ने चातक जी से लिखा हुआ प्रोग्राम ले कर नीरव जी के सामने बढ़ाया। नीरव जी ने एक नज़र देख कर प्रधान की ओर सरका दिया और प्रधान ने श्री कंटक से अपनी कविता पढ़ने की प्रार्थना की।

उन दिनों हिन्दी-कविता के युवक प्रेमियों के हृदयों पर श्री 'बच्चन' का राज्य था। इसलिए कंटक जी ने 'बच्चन' ही की तर्ज़ पर एक गीत सुनाना आरम्भ किया। आवाज़ तो 'बच्चन' की-सी वे कहाँ से लाते, पर भावनाओं की नक़ल करने का भरसक प्रयास उन्हों ने किया। उन के बाद दूसरे स्थानीय कवि श्री अवसाद जी ने श्रीमती महादेवी वर्मा की शैली में एक व्यथा-गान पढ़ा।

इन दो कविताओं के बाद प्रधान ने श्री धर्मदेव वेदालंकार से अपनी कहानी पढ़ने की प्रार्थना की। टाई की गिरह और पतलून की क्रीज़ को दुरुस्त करते हुए, धर्म जी अपनी कहानी सुनाने लगे।

श्री धर्मदेव वेदालंकार ने बहुत ज़्यादा न लिखा था। उन की कुछ कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं, जिन में से अधिकांश उन्होंने कोर्स की पुस्तकों में शामिल कर ली थीं। उन का बड़ा कारनामा यह था कि उन्हों ने हिन्दी में विदेशी कहानियों के अनुवाद किये थे, अथवा यों कहा जाय कि दूसरों से करा के छपवाये थे। उनका दावा था कि कहानी की, कहानी ही क्यों, उपन्यास, नाटक और कविता की कला को जितना वे समझते हैं उतना कोई नहीं समझता। लिखा उन्हों ने चाहे अधिक न था, पर लिखने की योजनाएँ उन्हों ने बहुत बना रखी थीं और शायद इसी कारण वे अपने-आप को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कथाकार समझते थे।

धर्म जी बड़े ज़ोरों से कहानी पढ़ते रहे और श्रोतागण अपने विचारों में मस्त सुनते रहे। इसी बीच में श्री चातक ने जगमोहन से प्रो० स्वरूप का परिचय कराया और प्रो० स्वरूप ने उस से वादा किया कि वे शीघ्र ही उसे काम देंगे। दुरो ने अपने पास बैठी हुई कुछ महिलाओं को पुस्तकें दिखायीं और उनके घरों के पते नोट किये। शुक्ला जी ने बायें हाथ की हथेली पर तम्बाकू और चूना मिला कर खैनी बनायी, बिना आवाज़ किये फटकी और निचले होंट और दाँतों के मध्य रख कर बड़े इतमीनान से उस का रस पपोलने लगे। कवि चातक ने दो-एक बार दुरो से आँख मिलाने का प्रयास किया और अपनी नयी कविता की पहली पंक्ति बना डाली। नीरव जी ने वहीं अपने प्रधानासन पर बैठे-बैठे अपनी कविता की रिहर्सल कर ली। शेष श्रोताओं में भी शायद ही किसी ने ध्यान से पूरी कहानी सुनी, लेकिन जब धर्म जी अपनी कहानी समाप्त कर के बैठे तो सब ने बड़े ज़ोरों से ताली बजायी।

धर्म जी के बाद प्रधान ने नाम पुकारा, "जीवनलाल 'वसंत' !"

एक अनगढ़-सा युवक, जिस के कपड़े अपेक्षाकृत मैले थे, दाढ़ी बढ़ी थी और आकृति पर वसंत के बदले पतझड़ की छाया थी, कविता पढ़ने खड़ा हुआ। उस के 'बड़े' नाम के मुक़ाबिले में उस के 'छोटे' दर्शन करके श्रोताओं में एक दबी-सी हँसी फूटी, पर उस हँसी की अवहेलना कर, वह युवक कविता पढ़ने लगा।

जगमोहन ने देखा कि बढ़ी दाढ़ी, रूखे बालों और कृश देह के बावजूद वसंत की बड़ी-बड़ी आँखों में कुछ विचित्र-सी चमक थी। वह गा कर कविता न पढ़ रहा था, पर उस की आवाज़ में लोच के बिना भी आकर्षण था और होंटों पर एक दर्दभरी विषाक्त मुस्कान थी।

कविता प्रकट ही प्रेम के सम्बन्ध में थी। कवि को प्रेम से इनकार न था, वह अपनी प्रेयसी को विश्वास दिलाना चाहता था कि उस की उदासीनता का कारण प्रेम की गहराई का अभाव नहीं। उस के सुन्दर शशि-मुख और उस के लहराते घन-कुन्तलों को देख कर उसका हृदय भी हिलोर लेता है, पर वह हिलोर धरती से उस के पाँव नहीं उखेड़ती। अपनी निजी ग़रीबी ही नहीं, बल्कि अपने सारे वातावरण की निर्धनता, संकुलता, अपरूपता उस के पाँव पकड़े रहती है। प्रेम से उसे इनकार नहीं, लेकिन वह प्रेयसी से कहता है कि प्यार का विलास

इस निर्धनता में सुखद नहीं । प्रेम यदि कुछ क्षणों के लिए उन्हें अपने वातावरण की अपरूपता भुला देगा तो उस की परिणति के पश्चात् उस वातावरण की भयंकरता और भी द्विगुणित हो कर उन की समस्त सुन्दर भावनाओं का गला घोंट देगी ।

और कवि बैठ गया । जगमोहन दत्तचित्त हो कर कविता सुनता रहा था । कई श्रोता जो धर्म जी की कहानी से ऊब कर बातें करने लगे थे, वसंत की वाणी के जादू से तन्मय हो गये । यद्यपि जगमोहन ने धर्मदेव जी, चातक जी और नीरव जी के चेहरों पर वितृष्णा की झलक भी देखी, एक-आध उपेक्षापूर्ण रिमार्क भी उस ने सुना, पर जगमोहन को उस कविता में अपनी ही भावनाओं की प्रतिध्वनि मिली । कविता के अन्त पर सहसा उसकी दृष्टि दुरो की ओर गयी—वह एकाग्र-चित्त हो कर कविता सुन रही थी ।

तभी डॉ० घनानन्द ने उस का नाम लिया ।

जगमोहन ने कविता लिखी थी । कवि चातक ही के अनुकरण में उस ने दुरो के प्रति अपनी भावनाएँ प्रकट की थीं । कविता उसने चातक जी को दिखा भी ली थी । उन्हों ने उसे पसन्द भी किया था और एक-दो जगह संशोधन भी कर दिया था । किन्तु वसंत की उस कविता के बाद उसे अपनी कविता पढ़ना स्वीकार न हुआ और उस ने कह दिया कि कविता लिखी तो थी, पर जल्दी में वह लाना भूल गया । कवि चातक ने, जो उस की कविता की प्रशंसा कर स्वयं दाद पाना चाहते थे, उसे बहुतेरा कहा, पर जगमोहन टस-से-मस न हुआ । तब डॉ० घना-नन्द के कहने पर वे स्वयं उठे ।

कवि चातक की कविता वही थी जो उन्होंने समाज की अनौपचारिक बैठक में पढ़ी थी । अन्तर केवल यह था कि उन्हों ने इस बार सत्या जी की ओर न देख कर दुरो की ओर देखा । उन्हों ने कविता काफ़ी जोश से पढ़ी, यहाँ तक कि कविता के अन्त में उन का गला तक भर आया ! किन्तु जगमोहन को वह एकदम निरर्थक लगी—निरर्थक, भावुक और नितान्त अत्युक्ति-पूर्ण ! वह वसंत की कविता के सम्बन्ध में निरन्तर सोचता रहा—ठीक तो है, इस वर्ग-विषमता और जाति-पाँति के बन्धनों में प्रेम प्रायः एकांगी ही रहता है, दो-तरफ़ा भी हो तो विवाह के मार्ग में बीस अड़चनें ! बीस अड़चनें पार हों, प्रेम की उस परिणति के फलस्वरूप

विवाह हो भी जाय तो बच्चों का होना आवश्यक ! बस अपनी सब योजनाएँ, आकांक्षाएँ, अरमान ग़रीब-गृहस्थी के कोल्हू को चलाने में स्वाहा कर दो ! जहाँ अपना पेट पालना कठिन हो, वहाँ बीवी-बच्चों का बोझ लादने से लाभ ? जिस समाज में काम के लिए उपयुक्त अवसर नहीं, जीवन-यापन के लिए सुविधा नहीं, वहाँ प्रेम और विवाह विलासिता नहीं तो क्या है ? और उस अनगढ़ कवि के लिए जगमोहन के हृदय में सहानुभूति, समवेदना और प्यार-सा उमड़ आया। कवि चातक की कविता को बिना सुने जगमोहन यह सब सोचता रहा और जब वह चौंका तो सत्या जी हाथ में कुछ काग़ज़ लिये खड़ी थीं और कवि चातक उन का परिचय दे रहे थे।

सत्या जी ने अपनी कहानी ऐसे पढ़ी, जैसे वह उन की नहीं, किसी दूसरे की लिखी हुई थी। जिस प्रकार मशीन घास काटती चली जाती है, उस प्रकार सत्या जी कहानी पढ़ कर अपनी जगह जा बैठीं और डॉ० घनानन्द ने नीरव जी को अपनी मधुर कविता सुनाने का कष्ट दिया। उन्हों ने भी कदाचित कवि चातक के अनुकरण में अथवा इसलिए कि वह कविता उन्होंने नयी-नयी लिखी थी, समाज की अनौपचारिक बैठक वाली अपनी कविता 'महाप्रस्थान' ही पढ़ी।

नीरव जी के 'महाप्रस्थान' के बाद डॉ० घनानन्द ने प्रधान-मंत्री के रूप में श्री धर्मदेव वेदालंकार को बधाई दी। फिर उन्हें पास बैठे हुए नीरव जी का ध्यान आया। हकला कर उन्होंने उन्हें भी बधाई दी। तब उनकी निगाहें श्री चातक से चार हुईं और उन्हें याद आया कि समाज तो चातक जी का स्वप्न है। यह ध्यान आते ही उन की जीभ उन के तीनों टूटे हुए दाँतों में आ गयी और उन्होंने चातक जी का नाम लेते हुए, उन सब को बधाई दे डाली, जिन्होंने इतने 'सुन्दर' समाज का आयोजन किया था।

और प्रधान के इस भाषण के उपरांत सभा विसर्जित हुई।

०

घर के सभी लोग कब के सो गये थे। दूर किसी घड़ियाल ने बारह बजाये। दुरो ने करवट बदली। उस की मौसी, जो देर तक बच्चे को पंखा करती रहती थीं और प्रायः सब के बाद सोती थीं, पंखे को हाथ ही में लिये हुए, अधलेटी-अधबैठी सो गयी थीं। सिर उन का सोये बच्चे के साथ जा लगा था और पंखे

वाला हाथ चारपाई के नीचे ढलक आया था। पंखा फिसलता-फिसलता धरती को छू कर वहीं रुका रह गया था। ऊपर कृष्ण-पक्ष का चाँद चमक रहा था। उस की मद्धिम ज्योत्स्ना में अपनी मौसी की यह भंगिमा दुरो को किसी कलाकार के तैलचित्र-सी लगी—अस्पष्ट होते हुए भी स्पष्ट, रूखी-सूखी और ऐसी टेढ़ी-बेंगी, जो जागते में सम्भव नहीं। कितनी ही देर तक वह एक-टक अपनी मौसी की वह भंगिमा देखती रही। तभी दूर कोने में लेटे उस के मौसा अपनी दरियाई घोड़े की-सी मूँछों में उलझती हुई साँस से खर्राटे लेने लगे। दुरो ने लम्बी साँस ले कर फिर करवट बदली....

'संस्कृति-समाज' में जितने लोगों को उस ने देखा था, उन में उसे केवल वसंत ऐसा दिखायी दिया था जो कुछ जागरूक था। इसलिए जब समाज की बैठक खत्म हुई तो दुरो बढ़ कर वसंत के पास पहुँची थी और उस की कविता की प्रशंसा करते हुए उस ने उसे अपने स्टडी-सरकल में चलने का निमन्त्रण दिया था।

"जी कविता तो क्या थी, कवियों-सा छन्द और अलंकार-ज्ञान या कल्पना की उड़ान हमारे पास कहाँ, !" वसंत ने उसी विषाक्त मुस्कान के साथ कहा था, "योंही दिल में जो उल्टी-सीधी आती है, लिख देते हैं।"

"दिल में नहीं, दिमाग़ में।" कवि चातक की आवाज़ आयी।

दुरो कहने वाली थी, 'कल्पना की उड़ान के बदले आज इसी उल्टी-सीधी-सच्ची की आवश्यकता है....' पर कवि चातक की आवाज़ सुनते ही उस ने पलट कर देखा—धोती सम्हालते और बालों की लट को माथे से हटाते हुए कवि उधर ही आ रहे थे।

उन के उत्तर में वसंत क्षण-भर चुप रहा, फिर उस ने कहा, "आप दिमाग़ कह लीजिए, मेरे निकट तो दिल-दिमाग़ एक ही चीज़ है।"

"एक ही चीज़ नहीं," कवि चातक ने मुस्कराते हुए कहा, "दिल महसूस करता है और दिमाग़ सोचता है, खोपड़ी में अनुभूति है; ऐसा कोई नहीं कहता अनुभूति हृदय की चीज़ है!" कवि आत्मतुष्टि से हँसे, एक दृष्टि उन्होंने सत्या और शान्ता जी पर डाली, जो कुछ दूर खड़ी थीं, और बालों की लट को उन्होंने फिर पीछे हटाया।

श्री भगतराम सहगल न जाने कब उन के पास आ खड़े हुए थे। 'हिं-हिं' कर कवि के समर्थन में उन्होंने अपने परदाँत दिखा दिये और बोले, "क्या बात कही है, वाह-वा!"

दुरो कवि चातक को कभी पसन्द न कर पायी थी। भगतराम तो उसे एक-दम वज्र-मूर्ख दिखायी देता था। उत्तर में चिढ़ कर वह कुछ कहने ही वाली थी कि कवि बोले, ख़ैर दिल-दिमाग़ की बात छोड़ो। तुम लिखते ख़ूब हो। ज़रा गति-भंग और यति-भंग का ध्यान रखा करो। मात्राएँ भी एक-आध जगह बढ़ गयी हैं। पढ़ने से पहले हमें दिखा लिया करो। दिनों ही में चमक जाओगे!"

"जी आप की बड़ी कृपा है।" उसी विषाक्त मुस्कान के साथ वसंत ने कहा। कवि ने उस मुस्कान के विष को नहीं देखा। वे उसी आत्मतुष्टि से हँसे। अपनी उस दिन की कविता को ले कर कला में अनुभूति के विषय पर वे कुछ अमूल्य विचार प्रकट करने जा रहे थे कि सत्या जी ने आगे बढ़ कर दुरो से कहा :

"यदि तुम्हें ग्वालमंडी चलना है तो चलो। यहीं साढ़े-छै बज गये हैं, क्या बारह बजे घर पहुँचोगी?"

"हाँ हाँ चलो!" दुरो ने कहा, "चलिए वसन्त जी!"

"चलिए!"

"चलिए मोहन जी आप भी चलेंगे?" सत्या जी ने जैसे दरी से कहा।

जगमोहन स्वयं वसन्त की प्रशंसा करने आया था और चुपचाप खड़ा यह सब सुन रहा था। सहसा चौंक कर बोला, "कहाँ?"

"यह दुरो किसी स्टडी-सरकल में ले जाना चाहती है। चलिए इसका भी स्टडी-सरकल ज़रा देख लें?" उन की निगाहें दरी से नहीं उठीं।

"चलिए!"

"चलो हम भी चलते हैं, 'संस्कृति-समाज' के ही कुछ सदस्य बना आयेंगे।" हँसते और कदम बढ़ाते हुए कवि चातक ने कहा, बालों की लट को उन्होंने फिर पीछे हटाया और सत्या जी की ओर मुड़ कर बोले, "आप की कहानी ख़ूब थी। पहले पढ़ चुका था, पर आप के मुँह से सुन कर और भी आनन्द आया।"

सत्या जी ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया। चुपचाप वे बढ़ चलीं।

०

वे तो शायद जल्दी ग्वालमंडी पहुँच जाते, पर कवि चातक मटकते हुए चींटी की चाल चलते रहे, इसलिए उन्हें काफ़ी देर लग गयी। मीटिंग शुरू हो चुकी थी। दुरो ने हरीश से सब का परिचय कराया और बारी आने पर वसंत से वही कविता पढ़ने का अनुरोध किया।

उस छोटे कमरे में लगभग एक-दूसरे से सटे बैठे दस-पन्द्रह युवक-युवतियों की आकृतियों में न जाने क्या बात थी कि वसन्त को बड़ा अपनत्व का आभास मिला। 'संस्कृति-समाज' में वह अपने-आप को मक्खन के कटोरे में एक नन्हें-से उपलखंड-सा महसूस करता था। यहाँ तो उसे लगा, जैसे वह उन्हीं में से एक हो, इसलिए जब उस ने कविता पढ़ी तो उस के स्वर में पहले की अपेक्षा अधिक आत्मविश्वास था। प्रशंसा भी उसे यहाँ 'संस्कृति-समाज' की अपेक्षा कहीं अधिक मिली।

जब वसंत कविता पढ़ रहा था, लोग उसकी प्रशंसा कर रहे थे तो दुरो ने देखा कि कवि चातक के चेहरे पर एक रंग आता है और एक जाता है। कभी वे दायीं करवट बैठते हैं, कभी बायीं। कभी दायें हाथ से बालों की लट को पीछे हटाते हैं, कभी बायें हाथ से। और उस ने देखा कि जब वसंत ने कविता समाप्त की तो कवि चातक स्वयं कविता सुनाने को आतुर हो उठे।

तभी हरीश जी ने पूछा, "कोई इस कविता के बारे में कुछ कहना चाहता है?"

इस से पहले कि कोई कुछ कहता, दुरो ने कहा, "अभी यह कविता 'संस्कृति-समाज' की बैठक में पढ़ी गयी थी। चातक जी ने इस के सम्बन्ध में कहा कि यह दिल की नहीं, दिमाग़ की कविता है। कविता दिल से लिखी जाती है या दिमाग़ से? अनुभूति दिल की चीज़ है या दिमाग़ की? यदि आप इस विषय पर कुछ प्रकाश डालें तो बहुत अच्छा हो!"

दुरो ने देखा कि कवि का रंग उतर गया है। उस के होंट व्यंग्य से तनिक फैल गये। कवि दस जमात भी नहीं पढ़े थे। कविता के लिए वे पढ़ाई को इतना आवश्यक न समझते थे। 'यदि कविता केवल पढ़ाई ही से होती,' वे हँस कर कहा करते थे, 'तो ये जो इतने बी० ए०, एम० ए० मारे-मारे फिर रहे हैं, सब कवि होते। कविता के लिए अनुभूति की आवश्यकता है, अनुभूति-प्रवण हृदय की

आवश्यकता है।' लेकिन वहाँ काम और अध्ययन के आधिक्य से पीले और नुकीले चेहरों में उन्हें कुछ ऐसी चीज़ दिखायी देती थी, जिस का उन के पास सर्वथा अभाव था और उन्हें लगता था कि जो सिक्का वे दूसरी जगह चलाते थे, वहाँ नहीं चल सकता।

"इस से पहले कि कोई कुछ कहे," उन्होंने सहसा होंटों पर ज़बान फेरते हुए कहा, "मैं अपनी स्थिति साफ़ कर देना चाहता हूँ। मैं यह नहीं कहता कि कविता के लिए मस्तिष्क की कोई आवश्यकता नहीं। जहाँ तक काव्य-कला का सम्बन्ध है, कला के परिष्कार और परिमार्जन का सम्बन्ध है, निश्चय ही मस्तिष्क की आवश्यकता है, किन्तु कविता में करुणा, संवेदना, मर्म पर चोट करने वाली, हृदय को हिला देने वाली चीज़ तो कवि के अनुभूतिशील, अत्यधिक भावुक हृदय ही की देन है।"

इस पर कई साथियों ने कुछ कहना चाहा, पर हाथ के संकेत से हरीश ने सब को रोक दिया। घड़ी देखते हुए उन्होंने कहा, "इस समय वक्त काफ़ी हो गया है। यह विषय यथेष्ट महत्व का है। मैं समझता हूँ, इस पर पूरे एक दिन बहस रखी जाय!" फिर मुस्करा कर उन्होंने कहा, "इस समय मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि यह दिल और दिमाग़ का बँटवारा भी कवियों ने अपने-आप कर लिया है। शरीर-विज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। शरीर में तो हृदय केवल एक मांसपिंड है, जिसका काम नसों में रक्त के प्रवाह को जारी रखना है। वह न सोच सकता है, न समझ सकता है, न महसूस कर सकता है। ये सब काम तो दिमाग़ ही करता है; एक छोटा-सा दिल तो कछुवे के पहलू में भी धड़कता है, किन्तु वह अनुभूति से वंचित है। क्योंकि उसके अविकसित मस्तिष्क में न सोचने की शक्ति है, न अनुभूति की क्षमता। पागल आदमी का दिल तो ठीक होता है, फिर वह अनुभव क्यों नहीं कर सकता? सौन्दर्य का बोध उसका क्यों मारा जाता है? इसीलिए ना, कि उस का दिमाग़ ख़राब हो जाता है!"

"पर खोपड़ी महसूस करती है, यह तो कोई कभी नहीं कहता।" जगमोहन ने कवि की सहायता में कवि ही के शब्द दोहराये।

दुरो के होंट विद्रूप से विकुंचित हो गये। जगमोहन ने उस मुस्कान को देखा। हृदय में कसक हुई। पर कवि को परास्त होते देख, उन के मुख की श्रीहीनता से

अभिभूत हो, मन-ही-मन हरीश से सहमत होते हुए भी, वह कवि की सहायता को आतुर हो उठा था।

हरीश हँसे, "कोई नहीं कहता, इससे यह बात सच तो नहीं हो जाती। हम ने काव्य और कल्पना का जादू जगाने के लिए दिल और दिमाग़ के विभाजन का सुन्दर झूठ अपना लिया है। सोचने का काम मस्तिष्क को दे दिया है और अनुभूति का हृदय को। काव्य के सृजन और रसास्वादन के लिए इस की आवश्यकता भी है, पर इस विभाजन को काव्य की नींव बना कर हम काव्य और कला की कसौटी तो तैयार नहीं कर सकते। आँख देखती है, दिमाग़ पर उसी समय उस का प्रभाव पड़ता है और दिल धड़कने लगता है। निमिष-मात्र में यह सब हो जाता है। दिमाग़ की अत्यधिक अनुभूति-प्रवण, सूक्ष्म नसों के कारण सब क्रियाएँ एक साथ हो जाती हैं। दिल धड़क रहा हो और दिमाग़ मज़े से सोया हुआ हो, ऐसा तो नहीं होता। सोचने, समझने, अनुभव करने और उस अनुभूत को काव्य का आवरण पहनाने का काम दिमाग़ ही करता है, दिल नहीं।"

इतना कह कर हरीश क्षण-भर के लिए रुके। कवि चातक से कोई उत्तर न बन पड़ा। दुरो ने देखा कि उन का मुँह कुछ और उतर गया है और कद एकदम छोटा-सा हो गया है।

"यह विषय बड़े महत्व का है और इस पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।" हरीश ने कहा, "इस पर हम फिर किसी दिन बहस रखेंगे।"

और वे उठे।

"यदि चन्द ऐसे ही उत्साही कार्यकर्ता हमें मिल जायँ तो हम बड़ा काम कर ले जायँ!" चलते समय हरीश ने वसंत आदि को लाने के लिए दुरो की प्रशंसा करते हुए कहा, और उसके कंधे को थपथपा दिया।

०

हरीश के हाथ का वह स्पर्श, उस हल्की-सी प्रशंसा-भरी थपथपाहट का वह पुलक दुरो को उस समय भी अपने अणु-अणु में प्रतीत हो रहा था। उस ने जैसे उसे धरती से ऊपर उठा दिया था। वह स्वप्न की-सी दशा में घर आयी थी। श्याम गली से बहुत दूर आ कर कवि मुखर हुए थे। तब जगमोहन और सत्या जी पर अपनी बुद्धि का प्रभाव डालने के लिए उन्होंने क्या कहा और वसंत तथा

चम्पा से उन की क्या बहस हुई, यह सब दुरो ने नहीं सुना। वह तो चुपचाप, जैसे अन्तर के रस में शराबोर चली आयी थी। मोहनलाल रोड से वे लोग ताँगे पर बैठी थीं और घर के दरवाज़े पर आ कर उतर गयी थीं। सत्या जी साथ न होतीं तो मौसी अवश्य डाँटतीं। चुपचाप उस से खाना खाया, बर्तन मले और आ कर लेट गयी थी।

पाँच

सत्या जी, दुरो और उस की सहेली चम्पा को मोहनलाल रोड पर छोड़ कर वे मुड़े तो कवि चातक ने प्रस्ताव किया था कि जगमोहन और वसंत उन के घर चलें, खाना वहीं खायें और कुछ कविता-अविता सुनें-सुनायें! पर न वसंत की इच्छा हुई, न जगमोहन की। अनजाने ही दोनों एक-दूसरे के परिचय को घनिष्ठ बना लेना चाहते थे। अस्पताल रोड के सिरे पर दोनों ने कवि से छुट्टी ली। जगमोहन के पास कुछ पैसे थे, केसरी की दुकान में वे चले गये और जगमोहन ने एक-एक लेमोनेड का आर्डर दिया। वहीं बैठे और सोडे की चुस्कियाँ लेते हुए दोनों ने, एक-दूसरे को अपना परिचय दिया।

वसंत का संघर्ष जगमोहन की अपेक्षा और भी भीषण था। बचपन में उस की माँ मर गयी थी। पिता क्लर्क थे। बड़े स्नेह से उन्होंने उसे पाला। पचपन रुपये मासिक वे पाते थे। उतने ही से किसी-न-किसी प्रकार उन्होंने उसे शिक्षा दिलायी। मैट्रिक में वह छात्रवृत्ति पा गया। एफ़० ए० में दाखिल हुआ तो उस के पिता रिटायर्ड हो गये। उन की इच्छा थी कि उन का लड़का बी० ए०, एल-एल० बी० करे, पी० सी० एस० अथवा आई० सी० एस० के कम्पीटीशन में बैठे। यद्यपि उस की रुचि नौकरी की ओर न थी तो भी पिता की प्रसन्नता के लिए उस ने कम्पीटीशन में बैठना स्वीकार कर लिया। लेकिन वह अभी थर्ड-ईयर ही में था कि उस के पिता का देहान्त हो गया और वह संसार में बे-सहारा रह गया। बी० ए० उसने किसी-न-किसी तरह कर लिया, पर पोज़ीशन न पा सका और उस की पढ़ाई की प्रगति रुक गयी। पिता ने एक जगह उस की सगाई

कर रखी थी। उस के ससुर उसकी सहायता भी करना चाहते थे—इस शर्त पर कि वह कम्पीटीशन में बैठे और वादा करे कि कम्पीटीशन में आने पर वह कहीं और शादी न करेगा।

"लड़की मुझे पसन्द थी," वसंत ने कहा, "लेकिन जाने क्यों मुझे यह स्थिति पसन्द न आयी। पिता जी जीवित रहते तो पी० सी० एस० छोड़, आई० सी० एस० भी क्यों न बन जाता, मैं उसी लड़की से शादी करता। पर तब मुझे लगा कि यह तो मैं अपने-आप को बेच रहा हूँ, और यह अपने साथ ही नहीं, उस लड़की के साथ भी अन्याय है, और मैंने इनकार कर दिया।"

"और अब ?" जगमोहन ने एक लम्बी चुस्की ले कर पूछा।

"अब सर्दियों की बरसाती रात-सी दुनिया है और भीगे कम्बल-सा यह जीवन !" वसंत कुछ अजीब पीली-सी हँसी हँसा, "न इस भीगे कम्बल को छोड़ते बनता है न रखते !"

"तुम ने मेरे दिल की बात कह दी।" जगमोहन बोला।

"लेकिन आशा यही है कि सुबह होगी, सूरज निकलेगा और यह कम्बल सूखेगा !"

"मैं स्वयं कभी-कभी बड़ा निराश हो जाता हूँ," जगमोहन ने कहा, "पर कोई चीज़ ऐसी है जो बरबस आगे बढ़ाये जाती है।"

दोनों मित्र हाथ-में-हाथ दिये केसरी की दुकान से निकले और बाज़ार की भीड़ और कोलाहल से अनभिज्ञ, बातों में मस्त चले आये।

वसंत लोहारी दरवाज़े के अन्दर एक मन्दिर में कमरा ले कर रहता था। चौक अनारकली से आगे, फूलों की दुकानों के पास, म्युनिसिपल गार्डन्ज़ को जाने वाले मार्ग के मुहाने पर दोनों रुक गये। वहीं खड़े-खड़े बातें करते रहे। जगमोहन ने उस से कहा कि वह 'संस्कृति-समाज' की बैठकों में अवश्य आया करे। और तो कोई लाभ शायद इस 'संस्कृति-समाज' से न हो, पर पन्द्रह दिन में एक बार मिल-बैठने का अवसर मिल जायगा। उस ने वसंत को बताया कि वह एम० ए० में दाख़िल होने का प्रयास कर रहा है और उसे भी परामर्श दिया कि वह एम० ए० में दाख़िल होने की कोशिश करे।

"इच्छा तो मेरी भी यही है," वसंत ने कहा, "पर साधन मेरे पास नहीं।

फिर कभी-कभी यह भी ख़याल आता है कि थर्ड-क्लास एम० ए० करके क्लर्की करने की अपेक्षा, बिना एम० ए० किये भी तो क्लर्की की जा सकती है।"

"क्लर्की ?"

"और क्या !" तिक्त-सी मुस्कान वसंत के होंटों पर फैल गयी, "फ़र्स्ट-क्लास एम० ए० हो, फिर बी० टी० हो, साथ में कोई सिफ़ारिश हो, तब कहीं जा कर किसी अच्छे कॉलेज में लेक्चररशिप मिल सकती है।"

"लेकिन एम० ए० में फ़र्स्ट-डिवीज़न...."

'उस के लिए साधन चाहिए, समय चाहिए !" वसंत ने बात काट कर कहा।

जगमोहन चुप रहा।

"बिना इस समाज का ढाँचा बदले हम-जैसों के लिए कुछ नहीं हो सकता।" वसंत ने अपनी बात पूरी की।

दोनों मित्र क्षण-भर चुप रहे, फिर जगमोहन बोला "कभी-कभी मैं भी ऐसे ही निराश हो जाता हूँ। पर चुप बैठने से भी तो काम नहीं चलता। इस-लिए मैं चलते रहना चाहता हूँ। सोच रहा हूँ कहीं से एक-मुश्त अस्सी-नब्बे रुपये आ जायँ तो दाख़िल हो जाऊँ। आज प्रोफ़ेसर स्वरूप कुछ काम देने को कह रहे थे, यदि वे कुछ काम दे दें और मैं इतना पा जाऊँ कि प्रवेश-शुल्क दे सकूँ तो फिर कोई चिन्ता नहीं। बाकी सब प्रबन्ध मैं किसी-न-किसी तरह कर लूँगा।"

"प्रोफ़ेसर स्वरूप....प्रोफ़ेसर ज्योतिस्वरूप ?"

"हाँ ! क्यों ?"

"काम तो उनसे मिल जायगा, पर पैसे शायद ही मिलें।"

"क्यों ?"

"पैसे वे कभी ही किसी को देते हैं। मेरे कई परिचितों को इस का कटु अनुभव है। पैसों का तय कर लेना।"

जगमोहन का दिल टूट-सा गया। पर उस ने बेपरवाही से कहा, "मैं पेशगी ले लूँगा। यदि पारिश्रमिक ही न मिला तो फिर काम करने से लाभ ?"

और वसंत से हाथ मिला कर वह घर की ओर मुड़ा।

०

सोमवार का दिन था। रात जगमोहन बहुत देर में सोया था। सत्या जी, दुरो,

संस्कृति-समाज, राष्ट्रीय स्टडी-सरकल, हरीश जो और वसंत—इन सब के सम्बन्ध में सोचते-सोचते उसकी नींद उड़ गयी थी। लेकिन स्वभाव के अनुसार प्रातः उठ कर वह सैर और कसरत कर आया था। इसलिए जब वह लस्सी का बड़ा गिलास पी, मियानी में जा कर लेटा तो पड़ते ही नींद आ गयी।

"उठो भी, कैसे घोड़े बेच कर सोये हो?"

जगमोहन की नींद खुल गयी। उसने देखा, भाभी उसे बेतरह झकझोर रही है। उस का सारा शरीर पसीने से तर है।

"तुम हो कि उठने ही को नहीं आते और नीचे दो भलेमानुस तुम से मिलने को खड़े हैं।"

जगमोहन ने जल्दी से तहमद के छोर से पसीना पोंछा, मेज़ पर पड़ा कुर्ता पहना और भाग कर नीचे गया। ड्योढ़ी में श्री धर्मदेव वेदालंकार और प्रो० स्वरूप खड़े थे और दरवाज़े से बाहर उन की कार चमचमा रही थी।

"आइए आइए!" और वह उन्हें ले कर मियानी में आया।

"जगह तो यहाँ आप लोगों के बैठने योग्य नहीं है," उसने कुर्सी प्रोफ़ेसर साहब की ओर बढ़ाते हुए कहा, "पर आंखों में और दिल में जगह बहुत है।" और वह खिसियानी-सी हँसी हँसा।

प्रोफ़ेसर साहब कुर्सी पर बैठे और श्री धर्मदेव मेज़ के कोने पर, और जगमोहन दीवार के साथ पीठ लगाये पंखा झलने लगा।

"चातक जी ने कहा था कि आप को आजकल कुछ अवकाश है, आप कुछ काम चाहते हैं और उर्दू आप अच्छी तरह जानते हैं।"

"जी हाँ।"

"बात यह है," श्री धर्मदेव ने कहा, "प्रोफ़ेसर साहब ने एक इतिहास लिख रखा है जो मैट्रिक में लगा हुआ है। उस का एक अनुवाद ये हिन्दी में कराना चाहते हैं।" और उन्होंने बगल से एक पुस्तक निकाल कर जगमोहन के हाथ में दी—प्रो० ज्योतिस्वरूप का लिखा प्रसिद्ध इतिहास था। जगमोहन उसे स्वयं उर्दू में पढ़ चुका था। एक नज़र देख कर और एक-दो पृष्ठ उलट कर उस ने कहा:

"हाँ कर दूँगा!"

"आठ-दस पृष्ठ आप करके दिखा दीजिएगा। यदि प्रोफ़ेसर साहब को पसन्द

आया तो फिर काम आरम्भ कर दीजिएगा।"

"जी मैं आज-ही-कल में आप को कुछ पृष्ठ करके दिखा दूँगा।"

"आप क्या चाहेंगे ?"

"जी मैं काम अच्छा करूँगा और परिश्रम से करूँगा।"

"एक बात है, हमको यह सब पन्द्रह दिन में चाहिए।"

"पन्द्रह दिन में"....जगमोहन ने क्षण-भर सोचा...."जी मैं दे दूँगा। चाहे मुझे रात-दिन काम करना पड़े....पर एक बात है....।"

"कहिए ?"

"आप को मुझे कुछ रुपया पेशगी देना होगा।"

ज्योंही आप अनुवाद देंगे, आप को मिल जायगा।"

"जी नहीं, मुझे रुपये की आजकल ज़रूरत है, मैं एम० ए० में दाखिल होना चाहता हूँ।"

"तो आप ज्योंही ख़त्म करेंगे, आप को रुपया मिल जायगा।"

"जी मैं आप को एक परिच्छेद करके दिखा दूँगा। आप को पसन्द आ गया तो मुझे कम-से-कम आधा पेशगी दे दीजिएगा।"

"कितना आप चाहेंगे ?"

"साढ़े छै आना पृष्ठ अनुवाद का रेट है।"

"साढ़े छै आने तो बहुत हैं।"

"जी मैंने झंडू-फ़ार्मेसी का सूचीपत्र उर्दू से हिन्दी में किया था। आठ आने पृष्ठ लिया था। आप से तो मैंने साढ़े छै आने कहा है। सूचीपत्र से तो अधिक परिश्रम करना पड़ेगा इस के लिए। फिर आप पन्द्रह दिन में चाहते हैं।"

"साढ़े पाँच आने लगाइए।" प्रोफ़ेसर साहब ने कहा, "साढ़े चार सौ पृष्ठ भी तो हैं। आप को एक साथ डेढ़-सौ रुपये का काम मिल जायगा।"

"जी बहुत अच्छा !"

और दोनों महाशय उठे। जगमोहन उन्हें कार तक छोड़ने गया और लगभग अभिभूत हो कर उसने उन्हें धन्यवाद दिया।

०

जगमोहन ने जब प्रो० स्वरूप के इतिहास का पहला परिच्छेद समाप्त किया तो

उस समय रात का एक बजा था। उस का शरीर ही नहीं, मस्तिष्क भी थक चुका था, पर इस थकन के बावजूद उसे नींद न आयी। गली में अपनी चारपाई पर जा कर वह लेटा तो पिछले दो-तीन दिन की घटनाएँ और उनके सम्बन्ध में बीसियों बातें उस के मस्तिष्क में चक्कर काटने लगीं।

प्रोफ़ेसर स्वरूप के और उसके स्तर में इतना अन्तर था कि जब वे कार ले कर उसके यहाँ आये तो वह जैसे कृतज्ञता से भर उठा था। वे उसे बुला भेजते तो वह भागा-भागा दस बार जाता, विशेषकर उस स्थिति में, जब उसे प्रवेश-शुल्क के लिए रुपये की आवश्यकता थी। पर वे स्वयं कार में उस के यहाँ पहुँचे थे। उन का यह व्यवहार उसे बड़ा सौजन्यपूर्ण लगा। उसने गर्व भी अनुभव किया और अपनी हीनावस्था पर उसे दुख भी हुआ। उस दिन भी, जब सत्या जी उसी मियानी में चटाई पर सो गयी थीं, उसे खेद हुआ था। उसने सोचा था कि क्यों उस के पास ढंग का एक कमरा भी नहीं। 'यदि उसे प्रोफ़ेसर साहब पचास रुपये पेशगी दे दें तो वह अवश्य अपने भाई से कह कर मालिक-मकान से वह कमरा ले ले जो ऊपर की छत पर ख़ाली पड़ा रहता है'—उस ने सोचा—और उस के सामने प्रोफ़ेसर साहब से सम्भावित भेंट का चित्र घूम गया। कल्पना-ही-कल्पना में उनसे बातें करते हुए न जाने कब उसकी पलकें बन्द हो गयीं।

०

सुबह अभी गली में उजियाला भी न हुआ था कि जगमोहन हड़बड़ा कर उठ बैठा। उस ने बिस्तर गोल किया, शौचादि से निवृत्त हो, हैंड-पम्प से पानी की बाल्टी भर कर स्नान किया और कपड़े पहन, अनूदित परिच्छेद बगल में दबा, वह प्रोफ़ेसर साहब के घर की ओर चल दिया।

प्रोफ़ेसर साहब एम० ए०, एल-एल० बी० थे। दोनों में सर्व प्रथम रहे थे और कुछ दिन ओरिएण्टल कॉलेज में पढ़ाते रहे थे। फिर एक जज की लड़की से उनकी शादी हो गयी। तब अध्यापकी छोड़ उन्होंने प्रेस खोला और लॉ-रिपोर्टर निकाला और धर्म जी के साथ मिल कर 'विश्व साहित्य प्रकाशन' के नाम से हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ किया। लॉ-रिपोर्टर में उन्हें साठ-सत्तर हज़ार का घाटा आ गया। प्रेस बन्द हो गया, लेकिन 'विश्व साहित्य प्रकाशन' चलता

रहा। जिन दिनों वे प्रेस चलाते थे और लॉ-रिपोर्टर निकालते थे, तब प्रेस के निकट ही चैम्बरलेन रोड पर रहते थे। जब उन्होंने हज़ारों का घाटा उठा कर प्रेस बन्द कर दिया और अलग मकान और नौकरों का ख़र्च चलाना उनके लिए दुष्कर हो गया तो वे लारेंस रोड पर अपने ससुर की कोठी में उठ गये थे।

लारेंस रोड पर दायें हाथ को गवर्नर की कोठी की ऊँची दीवार है और बायें हाथ को बँगले हैं। चार नम्बर के बँगले में प्रोफ़ेसर साहब के ससुर रहते थे और वहीं जगमोहन को उन्होंने बुलाया था।

कोठी का नम्बर पढ़ कर जब उसने अन्दर प्रवेश किया तो कुछ ही कदम चलने पर उस ने देखा कि बँगले के आगे लॉन में पलँग बिछाये, मसहरी लगाये, पंखा छोड़े प्रोफ़ेसर स्वरूप करवट के बल सोये हुए हैं। जगमोहन ठिठक गया। उसने देखा कि उनके पलँग के साथ और भी पलँग बिछे हैं। एक-दो पर बच्चे सोये हैं और दो ख़ाली हैं।

'बड़े आदमी हैं!' जगमोहन ने मन-ही-मन सोचा, 'सारी दुनिया जाग पड़ी और ये सोये हुए हैं।' वह उलटे-पाँव वापस फिरा। जा कर माल के किनारे घास पर बैठ गया। अनूदित परिच्छेद उसने फिर निकाल लिया और उसे एक नज़र देखने लगा। वहीं बैठे-बैठे उस ने सारे-का-सारा अनुवाद एक बार देख डाला। एक-दो जगह ठीक किया, फिर उस को बगल ही रख कर वहीं पर लेट गया और हरे-हरे घास के लॉन में, मसहरी की छाया में, पंखे की हवा में लेटने वाले के भाग्य की तुलना, ऋषिनगर के उन दुमंज़िले-तिमंज़िले मकानों से घुटी गली की उमस में, मच्छरों की भनभनाहट का वाद्य सुनते हुए लेटने वाले के भाग्य से करने लगा। अपनी उस गली की गन्दगी और घुटन से निकल कर कभी वह भी किसी कोठी के आगे, घास के खुले लॉन में, पंखे की हवा लेते हुए सोने का अवसर पा सकेगा? —वह सोचता रहा।

बड़ी देर तक बैठने, लेटने और इधर-उधर घूमने के बाद वह फिर कोठी में गया। प्रोफ़ेसर साहब उठ कर बैठ गये थे और मुँह पर हाथ फेर रहे थे। जग-मोहन वहीं रुका रहा! वे अन्दर चले जायँ तो वह जाय, उसने सोचा और लौट आया। पन्द्रह-बीस मिनट इधर-उधर घूम कर वह फिर गया। प्रोफ़ेसर साहब उठ कर अन्दर चले गये थे। उस ने जा कर बरामदे में 'कॉल-बेल' का बटन

दबाया और नौकर को अपना नाम दिया। लेकिन प्रोफ़ेसर साहब की प्रतीक्षा में उसे आधा घण्टा बैठना पड़ा। जब अन्ततोगत्वा वे ड्रेसिंग-गाउन पहने चाय का प्याला हाथ ही में लिये हुए बाहर आये तो उसने बढ़ कर उन्हें नमस्कार किया. और फिर अपने आने का मंतव्य प्रकट किया।

प्रोफ़ेसर साहब ने वह एक परिच्छेद सुना। पसन्द किया। कहा कि बस एक बार बैठ कर वह सारे-का-सारा लिख डाले और वे वापस अन्दर को चल दिये।

तब जगमोहन ने साहस कर पेशगी की बात कही। प्रोफ़ेसर साहब अन्दर गये। आ कर तीस रुपये उन्होंने उस के हाथ पर रख दिये। कहा, "पुस्तक तो 'विश्व साहित्य प्रकाशन' की है, दफ़्तर ही में आपको रुपया मिलना चाहिए, पर आप इतनी दूर से आये हैं, इसलिए अभी आप ये तीस रुपये रखिए। बीस रुपये मैं आप को धर्म जी के हाथ भेज दूँगा।"

"मुझे एम० ए० में दाख़िल होना है," जगमोहन ने थूक निगल कर कहा, "रुपये की मुझे बड़ी ज़रूरत है।"

"मैं भिजवा दूँगा, आप चिन्ता न करें।"

और वे अन्दर चले गये।

उसने नमस्कार किया और मुड़ा।

यद्यपि तीस रुपये भी उस के लिए बड़ी बात थी, उसे तो इस बात का भी डर था कि यदि कहीं प्रोफ़ेसर साहब को अनुवाद पसन्द न आया तो....पर न जाने क्यों, उसे तीस रुपये पा कर प्रसन्नता न हुई। वसंत ने उसके मन में जो सन्देह पैदा कर दिया था, इस पेशगी के बावजूद उस के मन में छिपा बैठा रहा।

०

"यह देखिए, यह बैठे हैं महात्मा जी!"

जगमोहन ने आँख उठा कर देखा—भाभी के साथ सत्या जी और दुरो खड़ी हैं।

"क्या हम आ सकते हैं?" दुरो ने कहा।

जगमोहन हड़बड़ा कर उठा। पास पड़ा कुर्ता पहन और तहमद की कोर पीछे कमर से निकालते हुए उस ने कहा, "आइए आइए!"

"मैंने आते-आते मियानी को ख़ाली देखा तो समझी कि आप ने मकान ही

बदल लिया है," सत्या जी ने पलँग की पट्टी पर बैठते हुए कहा। और उन्होंने कमरे में चारों ओर एक दृष्टि डाली।

प्रो० स्वरूप से तीस रुपये ले कर सब से पहला काम जगमोहन ने जो किया, वह मालिक-मकान से वही ऊपर वाला ख़ाली कमरा लेना था। कमरा तीसरी मंज़िल पर था, काफ़ी खुला और चौड़ा। ऊपर की मंज़िल पर होने से गर्मी तो थी, पर यदि हवा चले तो उस का पहला स्पर्श भी उसी को मिलता था। अपनी मेज़, तिपाई, किताबें वह ले आया था। चारपाई दिन को अन्दर और रात को बाहर कर लेता। कुर्सी और चारपाई के अतिरिक्त बैठने को और कोई चीज़ न थी, इसलिए वह एक नयी चटाई और एक सस्ती-सी साढ़े तीन रुपये की ईज़ी-चेयर भी ले आया था। दुरो को खड़ी देख कर उस ने उस की ओर संकेत कर दिया।

"मैं तो लाडो को रोते छोड़ आयी हूँ," कहती हुई भाभी चली गयी।

"आप तो बड़े व्यस्त हैं," दुरो ने कहा, "हम ने आप को व्यर्थ ही डिस्टर्ब किया।"

जगमोहन के होंटों पर एक थकी-सी मुस्कान फैल गयी। "यह प्रोफ़ेसर स्वरूप के इतिहास का अनुवाद करना है," उस ने कहा, "पन्द्रह दिन उन्होंने दिये हैं और तीन सौ पृष्ठ हैं। बीस पृष्ठ रोज़ करूँ तो समय पर दे सकता हूँ।"

"पन्द्रह दिन की क्या जल्दी है?"

"उन्हें कहीं पाठ्यक्रम में लगवाना होगा। है तो चार सौ पृष्ठ का, पर सौ पृष्ठ उन्होंने किसी और के अनुवाद किये हुए मुझे भिजवा दिये हैं। सो अब तीन सौ मुझे अनुवाद करने हैं। जी तो नहीं चाहता, पर कर रहा हूँ।"

"नहीं जी चाहता तो क्यों कर रहे हैं?"

"कर रहा हूँ इसलिए कि इसे हाथ में ले लिया है—नहीं अब पैसे मिलने की उतनी आशा नहीं। एम० ए० में दाख़िले के लिए रुपयों की ज़रूरत थी, सो यह काम लिया था। पचास रुपये पेशगी माँगे थे और साढ़े छै आने प्रति पृष्ठ पारिश्रमिक। पेशगी देना उन्होंने स्वीकार कर लिया था, किन्तु पारिश्रमिक एक आना घटा दिया कि चार सौ पृष्ठ का काम है, एक आना कम लीजिए। मैं भी मान गया। सोचा एक साथ डेढ़ सौ मिल जायँगे तो प्रवेश-शुल्क का प्रबन्ध हो

जायगा। जब एक परिच्छेद अनुवाद करके पास कराने और पेशगी लेने गया तो उन्होंने केवल तीस रुपये दिये और कहा कि शेष रुपये भिजवा दूँगा। दमड़ी उन्होंने अब तक भिजवायी नहीं। उलटे किसी दूसरे के अनुवाद किये हुए सौ पृष्ठ मेरे गले मढ़ दिये। एक आना पृष्ठ उन्होंने इस कारण कम किया कि चार सौ पृष्ठों का काम है। जब मैं पेशगी ले आया और मैंने काम शुरू कर दिया तो तीसरे दिन श्री धर्मदेव आये। मैं समझा कि पेशगी के बाकी बीस लाये हैं, पर उन्होंने एक मसौदा मेरे आगे फेंक दिया। कहने लगे, 'इस में एक सौ पृष्ठ का अनुवाद है, देखिए यदि आप काम में ला सकें!' मैंने संकोचवश ले लिया। रुपयों की बात टाल गये। पूछा तो कहने लगे, 'बस आप करते जाइए, शीघ्र ही आप को पहुँचा दूँगा।' दूसरे दिन फिर आये। मैंने समझा रुपये लाये हैं। वे फिर पचास पृष्ठ का एक मसौदा लाये। कहने लगे, 'यह एक सौ पचास से दो सौ तक का अनुवाद एक दूसरे व्यक्ति ने किया है। देखिए, यदि यह ठीक हो तो रख लीजिएगा।' क्रोध के मारे मेरा ख़ून खौल उठा। मैंने कहा, "आप चिन्ता न करें, मैं आप को काम समय पर ख़त्म करके दे दूँगा। अनुवाद को ख़राब न कीजिए। यदि आप कर सकें तो मुझे कुछ रुपये दिलवा दीजिए। काम तो देखिए, मैंने आपका पूरे ज़ोर से आरम्भ कर दिया है। किसी दूसरे का किया हुआ अनुवाद अब मैं और न लूँगा।"

"जाने ऐसे ही पचास-पचास पृष्ठ भिन्न व्यक्तियों से करा के वे पुस्तक समाप्त करना चाहते हों।"

"हो सकता है। इन वेदालंकार जी का कोई भरोसा नहीं। मैंने तो सुना दिया कि यदि आप को थोड़े ही पृष्ठ कराने हों तो अभी बता दीजिए, मेरा परिश्रम बचे। पारिश्रमिक तब मैं साढ़े छै आने पृष्ठ ही लूँगा। जितने कर लिये उन का हिसाब हो जायगा। 'नहीं ऐसी बात नहीं,' उन्होंने कहा, 'पृष्ठ तो और भी कराये हैं, पर अब आप ही कीजिए, प्रोफ़ेसर साहब को आप का अनुवाद पसन्द है।' मैंने पूछा, 'पेशगी के बीस रुपये?' बोले, 'बस आप अनुवाद ख़त्म कर दीजिए, रुपये आप को तुरन्त मिल जायँगे। मुझे आशा तो नहीं कि ये लोग रुपये जल्दी देंगे, पर काम उन को समय पर दूँगा, इस बात का मैंने फ़ैसला कर लिया है।"

"पर धर्मदेव जी तो आप के मित्र हैं।" सत्या जी बोलीं।

"इसी संकोच में पड़ा हूँ। नहीं मैं काम उसी समय छोड़ देता। आधा तो मैंने ख़त्म कर दिया है। सात दिन जम कर और बैठूंगा, सारा ख़त्म कर दूंगा। सोचता था, यदि डेढ़ सौ रुपया एक साथ मिल जाय तो मैं प्रवेश-शुल्क दे दूँ। तीस में से आधे तो मैंने ख़र्च भी कर दिये। सौ पृष्ठों के पैसे कम ही हो गये। अब शेष कितने रुपये मिलेंगे! मन बिलकुल नहीं हो रहा, फिर भी काम हाथ में ले लिया है, इसलिए कर रहा हूँ।"

"यह कमरा आप ने अच्छा ले लिया।" सत्या जी ने कहा।

"यही लाभ इस काम का समझिए!"

"तब तो हमें आप का अधिक समय नष्ट न करना चाहिए।" दुरो उठने का उपक्रम करते हुए बोली।

"नहीं बैठिए। नष्ट क्या, मैं तो प्रायः चार बजे से निरन्तर काम कर रहा हूँ। आप के आने से मुझे आराम ही मिलेगा।" और वह हँसा।

"दुरो आप के पास कुछ पुस्तकें बेचने आयी है।" सत्या जी बोलीं।

"कैसी पुस्तकें?" जगमोहन ने पूछा।

ऋषिनगर में मेरी एक-दो सहेलियाँ हैं, मैं कुछ पुस्तकें उन्हें दिखाने लायी हूँ। हरीश जी ने मेरे ज़िम्मे पचास की पुस्तकें लगा दी हैं। तीस की तो मैंने बेच भी दी हैं। बीस की रह गयी हैं। सत्या बहन ने कहा कि आप को भी दिखाती चलूँ।"

"मैं तो अभी प्रवेश-शुल्क का भी प्रबन्ध नहीं कर सका, वह हो जाय तो कोर्स की पुस्तकें ख़रीदूँ....फिर कोई और।" जगमोहन कुछ विवशता से हँसा। फिर उसने कहा, "लाइए देखूँ, कौन-सी पुस्तकें हैं!"

और दुरो ने पुस्तकों का बंडल उस की ओर बढ़ा दिया। जगमोहन ने एक नज़र उन्हें देखा और बोला :

"मेरे लिए तो सब नयी हैं। मैं आज तक अपने व्यक्तिगत जीवन की उलझनों में ऐसा उलझा रहा हूँ कि अपने से दूर मुझे कुछ सुझायी ही नहीं दिया। इन में से जो पुस्तकें आप समझती हैं कि मुझे पढ़नी चाहिएँ, दाम भी जिन के अधिक नहीं, वे आप मुझे दे दीजिए।"

और जब दुरो ने पुस्तकें छाँट कर जगमोहन को दीं तो तीस में से जो पन्द्रह रुपये उस के पास बच गये थे, वह उस ने दुरो की भेंट कर दिये।

छै

शाम हो गयी थी। कमरे में अँधेरा हो चला था। परन्तु जगमोहन बिजली का बटन दबाये बिना, निरन्तर काम कर रहा था। सत्या जी तथा दुरो उसे जहाँ छोड़ कर गयी थीं, वहाँ से वह हिला तक न था। चलते समय सत्या जी ने उसे सुना कर दुरो से कहा था कि वह अपनी सहेलियों के हो आये, वे नीचे भाभी के पास बैठेंगी, जाते-जाते वह उन्हें वहाँ से ले ले! एक-आध बार जगमोहन के मन में आयी भी कि नीचे जाय और दो क्षण उन से बातें करे। शायद दुरो ही आ गयी हो। लेकिन इस विचार को उस ने मन से भगा दिया था और फिर दुगुने जोश से अपने काम में रत हो गया था।

"अब तो अँधेरा हो गया है, अब बस कीजिए।"

जगमोहन ने सिर उठाया—सत्या जी हाथ में एक गिलास लिये उस की ओर आ रही थीं।

"अरे, आप अभी गयी नहीं ?" जगमोहन ने कहा।

"दुरो की प्रतीक्षा में बैठी रही। अभी उसने कहलवाया है कि वह जल्दी न आ पायेगी।"

"तो यह लस्सी आप काहे को लायीं ? भाभी क्या कर रही है ? मुझी को आवाज़ दे देती !"

"नन्हें को दूध पिला रही हैं। मैंने सोचा आप को नमस्कार करती चलूँ।"

"तो क्या आप जा रही हैं ?"

"हाँ देर हो रही है। आज गर्मी बहुत पड़ी है, आकाश पीला-पीला हो रहा है, आँधी-पानी न आ जाय !"

"तो आप अकेली कहाँ जायेंगी। मैं आप को छोड़ आऊँ।"

"नहीं आप क्यों कष्ट करेंगे, पहले ही आपका काफ़ी समय नष्ट हो गया है।"

"मैंने तो अपना काम कर लिया। पच्चीसवाँ पृष्ठ लिख रहा हूँ।" लस्सी का

गिलास एक ही साँस में समाप्त करते हुए जगमोहन ने कहा, "आप भाभी के पास बैठिए, मैं दो मिनट में कपड़े बदल कर आता हूँ ।"

०

सत्या जी गिलास ले कर नीचे गयीं तो जगमोहन ने पुस्तक और अनूदित पृष्ठ सम्हाल कर मेज़ पर रखे; पास पड़ी सुराही से ठंडा-ठंडा पानी ले कर मुँह धोया; पानी का हाथ बालों पर फेरा; कपड़े बदले और नीचे जा पहुँचा ।

"चलिए !" जाते ही उसने कहा ।

"मैंने भाभी को तैयार कर लिया है । ये कहती हैं, जब आप ले चलेंगे, ये आ जायँगी ।" सत्या जी ने वहीं खड़े-खड़े कहा, "अब कहिए, कब आयेंगे ?"

"काहे के लिए ?"

"सत्या जी की ओर हमारी मिठाई है न !" भाभी बोलीं ।

"मैं तैयार हूँ, सब आप पर है ।" सत्या जी ने कहा ।

"यदि आप केवल भाभी को चाहती हैं," जगमोहन ने उत्तर दिया, "तो मेरी ओर से कल रख लीजिए । उन्हें ले जाइए, खिला-पिला कर छोड़ जाइए । पर यदि हमारा भी मुँह मीठा कराना चाहती हैं तो फिर और सप्ताह भर रुक जाइए । मैं यह काम ख़त्म कर लूँ, फिर भाभी को ले आऊँगा ।"

"तो सप्ताह भर बाद सही !" भाभी ने कहा ।

"हाँ, हाँ !...." सत्या जी ने नमस्कार के लिए हाथ माथे की ओर ले जाते हुए कहा और चल दीं ।

०

बाहर लैम्प जल चुके थे । जगमोहन हरिनिवास वाले रास्ते की ओर चला तो सत्या जी ने कहा, "देर हो गयी है, इधर से आइए, जल्दी पहुँच जायेंगे ।"

"इधर पोस्ट-आफ़िस की ओर से ! इधर से कौन-सा मार्ग है ?"

"है । आप चले आइए !"

जगमोहन सत्या जी के पीछे चल पड़ा । यह मार्ग सूना ही था, इसलिए सत्या जी की दृष्टि न धरती पर जमी थी और न ही वे जगमोहन से अंतर पर चल रही थीं । कुछ दूर तक दोनों मौन-रूप से चलते रहे । फिर जब पोस्ट-आफ़िस से आगे होतूसिंह रोड पार कर, वे सूनी अँधेरी-सी गली में दाखिल हुए

तो सत्या जी चलते-चलते उस के साथ आ गयीं।

"आप ने उस दिन कविता क्यों नहीं पढ़ी ?" सहसा उन्होंने पूछा।

"योंही, मन नहीं हुआ।"

"क्यों ऐसी क्या बात थी ? आप जब हमारे यहाँ आये थे तो आप ने कहा था कि मैं भी कविता पढ़ूँगा।"

"वसंत ने जो कविता पढ़ी, उस के बाद मन कुछ उदास हो गया," जगमोहन ने कहा, अपनी कविता पढ़ने को हुआ ही नहीं। बात वसंत ने ठीक कही थी। समाज की वर्त्तमान व्यवस्था में हमारी पहली आवश्यकता पेट की भूख है। वसंत की बात कुछ ऐसी मन को लगी कि फिर मैं अपनी वह रूमानी कविता पढ़ने का साहस नहीं कर सका।"

कुछ क्षण दोनों मौन चलते रहे। फिर सत्या जी ने कहा, "पर वह कविता मुझे तो सुनाइए !"

"हटाइए जी, उस में क्या रखा है !"

"नहीं अवश्य सुनाइए !"

उन के स्वर में कुछ ऐसी तरलता, स्निग्धता और अनुरोध था कि जगमोहन ने कहा, "आप की इच्छा है तो सुन लीजिए। मैं कोई कवि तो हूँ नहीं। योंही चातक जी की संगति में रहने से तुक मिलाना सीख गया हूँ। केवल दस-बारह पंक्तियों की कविता है।"

और उस ने धीरे-धीरे मीठे स्वर में गा कर कविता पढ़ी :

यह नवल कुसुम सखि मेरे
सूने उर की डाली पर।
चुप-चुप धीरे-धीरे सखि,
मुरझा जायेगा खिल कर !
घड़ियाँ, पल निठुर समय के
बिखरा देंगे इस के दल।
औ' स्नेह-हीन हिम-आतप
मुरझा देंगे इस के दल।

उड़ जायेगी छिन भर में
इस की रंगत रतनारी !
पर मिट कर महकायेगा
यह मानस की फुलवारी !

साँझ का समय था। सूना मार्ग। जगमोहन के स्वर में कुछ ऐसी करुणा-भरी मिठास थी कि सत्या जी मुग्ध हो गयीं। यद्यपि उन की आकृति से उनके मन के भावों को जानना बड़ा कठिन था, पर जब उन्होंने कविता की प्रशंसा की तो उन के स्वर में कुछ अजीब-सी आर्द्रता थी।

"आपने व्यर्थ ही इसे पढ़ने से इनकार कर दिया," उलाहना देते हुए उन्होंने कहा, "आप कविता पढ़ते तो देखते कि वसंत की कविता से यह कितनी अधिक पसन्द की जाती।"

जगमोहन ने इसका उत्तर नहीं दिया। उसने कदाचित् सत्या जी की बात भी नहीं सुनी। उसका ध्यान दुरो की ओर चला गया और उसके हृदय से अनायास एक लम्बी साँस निकल गयी। दुरो उस से बहुत दूर थी, पर सत्या जी नितांत निकट ! और अपनी निकटता की याद वे उसे दिलाये रखना चाहती थीं। उस की लम्बी साँस को लक्ष्य करके उन्होंने लगभग गीले स्वर में कहा, "क्यों थक गये ? मैं तो अकेली ही आ जाती, आप यों ही चले आये।"

"नहीं-नहीं ऐसी कोई बात नहीं।" जगमोहन ने उठती हुई साँस को फिर दबा कर कहा।

दोनों फिर मौन-रूप से चलने लगे। होतूसिंह रोड के पार वाली गली के बाद, दायें हाथ के खुले मैदान में से होते हुए वे दोनों एक और बाज़ार में आये, जिसमें अभी केवल तीन-चार ही दुकानें बनी थीं। उस की एक गली में, चौथे मकान के पिछवाड़े से हो कर, वे एक रहट पर आ गये। जगमोहन बातें करता हुआ अपने ध्यान में मग्न चला आया था। बढ़ती हुई साँझ के गहरे अँधेरे में उसे तो रहट की उपस्थिति का भान भी न होता, यदि सहसा बायीं ओर एक कुत्ता न भूँकता और सत्या जी उसे चौंकाते हुए न कहतीं :

"बच कर आइएगा ! यहाँ पानी का बरहा टूटा हुआ है।"

जगमोहन ने आगे देखने का प्रयास किया, पर उसे एक बड़े-से पानी-भरे गढ़े

के अतिरिक्त कुछ दिखायी न दिया। सत्या जी उछल कर बरहे के उस पार जा खड़ी हुईं। जगमोहन भी उछलने लगा....।

"न न, उधर नहीं!" सत्या जी चिल्लायीं, "उधर पानी है, इधर ही आइए, जहाँ मैं खड़ी हूँ।" और उन्होंने हाथ बढ़ाया।

उन के हाथ का, हाथ का कहाँ, दो अँगुलियों का सहारा ले कर जगमोहन कूदा। कूदते ही हाथ उस ने छोड़ दिया। यदि वह हाथ न छोड़ता और वे ज़रा पीछे न हट जातीं तो वह उन के ऊपर जा गिरता।

"बड़ा वाहियात रास्ता है।" बरहे के दूसरे किनारे पाँव रखते ही उसने कहा। पर तभी सत्या जी, उसे सकुशल उस किनारे पर आ गया जान, मुड़ीं और उस के आगे-आगे चलते हुए बोलीं, "ज़रा अँधेरा हो गया है, पर यह रास्ता बड़ा सीधा और छोटा है।"

जगमोहन ने कुछ उत्तर न दिया। वह चुपचाप उन के पीछे चलने लगा। अँधेरा काफ़ी गहरा हो गया था। वे कदाचित् किसी पगडंडी पर जा रहे थे। जाने यह किसी कटे खेत की पगडंडी थी अथवा किसी खेल के मैदान की; क्योंकि दोनों ओर कुछ भी दिखायी न देता था। तभी श्वेत साड़ी में आवृत्त सत्या जी उसे निकट ही दिखायी दीं। उसी उजली-उजली रेखा के सहारे वह आगे बढ़ता गया। कभी वह रेखा तनिक दूर दिखायी देती, कभी एकदम निकट....कि सहसा मैदान ख़त्म हो गया और उस ने देखा वे 'शुक्ल-साहित्य-सदन' के निकट पहुँच गये है। उस एक फ़र्लाङ्ग के अकेले, सूने मार्ग पर सत्या जी चुप चली आयी थीं। एक भी शब्द उन के मुँह से न निकला था। पार पहुँच कर उन्होंने कहा, "हम शुक्ला जी के मकान के पास पहुँच गये। देखा, कितना सीधा और छोटा है यह रास्ता!"

"वही मैं देख रहा हूँ," जगमोहन बोला, "वह खिड़की शायद उन्हीं के मकान की है।"

"जी हाँ!" सत्या जी ने कहा और अचानक वे उसे अपने कॉलेज की बातें सुनाने लगीं।

तभी मेन रोड आ गयी। दूर एक पनवाड़ी की दुकान पर शुक्ला जी खड़े दिखायी दिये। सत्या जी ने कदाचित् दूर ही से उन्हें देख लिया। वे ऐसे आगे

बढ़ गयीं, जैसे वे जगमोहन के साथ नहीं, अकेली चली जा रही थीं। जगमोहन अपने ध्यान में मग्न पीछे रह गया।

"कहो भाई किधर ?" बराबर आने पर शुक्ला जी ने उसे देखा और पुकारा।

जगमोहन चौंका। उस ने देखा, सत्या जी आगे निकल गयी हैं। वह रुक गया।

मुँह में पान के बीड़े रखते हुए शुक्ला जी उस की ओर आये। सत्या जी के पीछे जाने के बदले जगमोहन स्वयं उन की ओर बढ़ा। 'सत्या जी को छोड़ने आया था,' उत्तर में उस ने कहना चाहा, पर शब्द उस के होंटों पर आ कर रुक गये। दो-चार बार की भेंट से जगमोहन शुक्ला जी को समझ गया था। फिर भी एकदम झूठ बोलना उस के लिए असम्भव था। उसे इस का अभ्यास ही न था। इसलिए दूसरे क्षण उस ने कहा, "ज़रा सत्या जी की ओर जा रहा था।"

"ऐ-हुम !" शुक्ला जी अजीब ढंग से खाँसे।

जगमोहन का खून खौल उठा, पर वह मौन बना रहा।

शुक्ला जी ने उस के मुँह की ओर देखा। शायद उन्हें लगा कि जगमोहन बुरा मान गया है। बोले, "अच्छा भाई, चलो तुम्हें छोड़ आयें सत्या जी के घर तक !"

जगमोहन ने सोचने की मुद्रा बनाते हुए दूर सत्या जी के मकान की ओर देखा। वे नीचे दरवाज़े में खड़ी थीं। जगमोहन के देखते ही उन्होंने दोनों हाथ माथे पर ले जा कर नमस्कार किया और मुड़ कर अन्दर चली गयीं। जगमोहन ने अपना विचार बदल दिया। इन महाशय को वहाँ ले जाना उसे अच्छा न लगा। "फिर चले जायँगे," उस ने लापरवाही से कहा, "नये सदस्य उन्होंने कुछ बनाये थे, उन के फ़ार्म लेने थे, फिर ले लेंगे, कोई ऐसा ज़रूरी काम तो यह है नहीं ! चलिए आप किधर चल रहे थे ?"

"काम तो बड़ा ज़रूरी है !" उन्होंने उस की ओर कनखियों से देखा, "पर तुम नहीं जाना चाहते तो चलो हम तुम्हें शान्ता जी के पास ले चलते हैं ! वे भी हमारी कार्यकारिणी में हैं और कई बार शिकायत कर चुकी हैं कि जगमोहन जी कभी नहीं आते ! चलो, वहीं ले चलें तुम्हें।"

शुक्ला जी की वह भंगिमा जगमोहन को निहायत बुरी लगी। सहसा उसे इस सारे व्यापार पर ग्लानि हो आयी। क्षणिक आवेश में उस ने कहा, "मैं तो समाज के मंत्री-पद ही से त्याग-पत्र देने को सोच रहा हूँ। वे मुझ से मिल कर क्या करेंगी ?"

"क्यों, क्यों ?" शुक्ला जी ने शान्ता-विद्यालय की ओर कदम बढ़ाते हुए चिन्तित स्वर में पूछा।

जगमोहन ने मन की बात मन ही में दबा ली। संयत हो कर वह बोला, "यों ही ! मैं एम० ए० में दाखिल होने की सोच रहा हूँ। समय का मेरे पास अभाव है। मंत्री तो नाम ही का मंत्री है, वास्तव में तो वह चपरासी है।"

"अरे भाई जब दाखिल होना, तब अलग हो जाना ! और फिर समाज को कुछ चल लेने दो, तुम्हें अलग से चपरासी भी दे देंगे। घबराते क्यों हो !"

जगमोहन ने इसका उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप उन के साथ चलता रहा।

०

जगमोहन अपने कमरे के सामने छत पर आरामकुर्सी डाले बड़े इतमीनान से बैठा था। उस ने 'संस्कृति-समाज' के मंत्रीपद से त्यागपत्र दे दिया था। शान्ता जी के घर पहुँच, शुक्ला जी ने भगतराम के साथ मिल कर कुछ ऐसी बातें की थीं कि उसका क्रोध द्विगुणित हो उठा था। और उसने पक्का इरादा कर लिया था कि वह ऐसी संस्था में नहीं रहेगा, जिसके सदस्य ऐसी गन्दी मनोवृत्ति के हों। त्यागपत्र देने के बाद जैसे एक बड़ा बोझ उसके सिर से उतर गया था।

लेकिन त्यागपत्र देने का निश्चय करके भी शायद कवि चातक के कारण वह न दे पाता। तभी एक और बात हुई। वह आधे से अधिक काम समाप्त करके वेदालंकार जी को देने गया और उस ने उनसे बीस रुपये माँगे तो उन्होंने फिर टाल दिया। जब आवेश में आ कर उस ने कहा कि वह रुपये न पायेगा तो शेष काम न करेगा, तब उन्होंने धमकी दी कि यदि वह काम छोड़ेगा तो न केवल उसे एक कौड़ी भी न मिलेगी, बल्कि उल्टा वे उस पर हर्जाने का दावा कर देंगे। जगमोहन निरीह आदमी था। कानून वह जानता न था। वह डर गया। काम तो उस ने फिर करना आरम्भ कर दिया, पर एक सहयोगी से ऐसा व्यवहार पा

कर, उस के हृदय को बड़ी ठेस लगी। उसे उस सारी-की-सारी साहित्यिक टोली से चिढ़ हो गयी। और श्री धर्मदेव वेदालंकार की उस धमकी के बाद, उसे कुछ ऐसा क्रोध आया कि उस ने आते ही त्यागपत्र लिखा और प्रधानमंत्री के नाते उन्हीं के पास भेज दिया। काम तो उस ने लगभग ख़त्म कर लिया था। यों वह ले आधा ही गया था, क्योंकि शेष उस ने साफ़ न किया था। दो-तीन दिन जम कर बैठा, काम उस ने समाप्त कर दिया और श्री धर्मदेव को देने के बदले वह प्रातः उठ कर, ढाई मील की मंज़िल मार कर, प्रो० स्वरूप की कोठी पर दे आया। यद्यपि उस समय रुपये तो उसे नहीं मिले। (उसे मिलने की उतनी आशा भी न थी) पर प्रो० स्वरूप ने उस के साथ व्यवहार बड़ा अच्छा किया। उसे चाय पूछी और वचन दिया कि शीघ्रातिशीघ्र वे उस के रुपये भिजवा देंगे।

"मैं स्वयं आऊँगा। मुझे एम० ए० में दाख़िल होना है, उस के लिए रुपये चाहिएँ।" उस ने कहा और उन से एक सप्ताह का वादा ले कर वह चला आया।

यद्यपि इतने सब परिश्रम के बाद (जिस से उस की आँखें तक ख़राब होने को आ गयीं) जगमोहन लगभग वहीं था, जहाँ से कि वह चला था—प्रवेश-शुल्क जुटाने की समस्या उस के सामने वैसी ही थी—पर जाने क्यों प्रो० स्वरूप को उन का काम सौंप कर वह अपने-आप को बड़ा हल्का-हल्का-सा पा रहा था। मस्तिष्क उस का चिन्ता-ग्रस्त था, पर शरीर कदाचित् काम का बोझ उतरने के बाद बड़ा हल्का-फुल्का महसूस कर रहा था। आ कर उस ने इतने दिनों से अस्त-व्यस्त पड़े अपने कमरे की सफ़ाई की। वहीं तख़्ती में लगे काग़ज़ पर उसे किसी उनींदी रात में लिखी कविता की कुछ पंक्तियाँ दिखायी दीं। कमरा साफ़ करके, वहीं छत पर नहा कर, संध्या के ढलते सायों में भीगी छत पर कुर्सी डाल, वह बैठ गया और कविता लिखने लगा।

"क्या अभी अनुवाद का काम समाप्त नहीं हुआ? आप तो कहते थे कि शनिवार तक दे आऊँगा!"

जगमोहन ने पलट कर देखा—सत्या जी सीढ़ियों में खड़ी हैं।

वह अचकचा कर उठा, "वह तो मैं सुबह ही दे आया था।" उस ने कहा।

"तो फिर इतनी तन्मयता से यह क्या लिख रहे हैं ?" सत्या जी आगे बढ़ आयीं।

"यों—ही, थके दिमाग़ को आराम दे रहा था।"

"अच्छा आराम दे रहे थे, मैं दस मिनट से खड़ी देख रही हूँ, आप ने सिर तक नहीं उठाया !"

कविता वाली तख़्ती को तिपाई पर उल्टी रख कर आरामकुर्सी की ओर संकेत करते हुए उसने कहा, "बैठिए बैठिए !" और स्वयं अन्दर चला गया। जब वह आया तो न तहमद पहने था, न उस ने गले में कुर्ता लपेट रखा था, बल्कि वह सूट-बूट डाँटे हुए था। सुबह जो सूट पहन कर वह प्रोफ़ेसर साहब के यहाँ गया था, घबराहट में वही पहन आया था।

यद्यपि जगमोहन तिपाई पर तख़्ती उल्टी रख गया था, पर जब वह वापस आया तो सत्या जी बड़ी तन्मयता से कविता पढ़ रही थीं।

"अजी आप क्या पढ़ने लगीं, अभी तो यह पूरी भी नहीं हुई !" और उस ने तख़्ती उन के हाथ से ले ली।

"तो बड़े ज़ोरों से कविता करने लगे हैं आप !"

"योंही थके दिमाग़ को आराम देने के ख़याल से ले बैठा था, पर कुछ बन नहीं रही।" वह कुछ रुका, फिर तनिक हँस कर उस ने कहा, "जिस प्रकार आदमी चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए नशा करने लगता है, मैं कविता ले बैठता हूँ। मन एकाग्र हो कर चिन्ता-मुक्त हो जाता है !"

"संस्कृति-समाज से तो आप ने त्यागपत्र दे दिया, अब आप को काहे की चिन्ता है ?"

"अब मैं आप को क्या बताऊँ," जगमोहन ने कहा, "मैं एम० ए० में दाख़िल होना चाहता था, इसलिए मैंने प्रोफ़ेसर स्वरूप का काम लिया था। जैसे दिन-रात मैं लगा रहा हूँ, वह आप देख ही चुकी हैं, लेकिन जो तीस रुपये उन्होंने दिये सो दिये—उन तीस रुपयों का भी हाल आपको मालूम ही है—अब और कानी कौड़ी भी मिलने की आशा वहाँ से नहीं।"

और प्रो० स्वरूप और वेदालंकार का सारा किस्सा उस ने सत्या जी को सुना दिया।

"जो आदमी ऐसा नीच हो, उस के साथ मंत्री के रूप में काम करना मेरे लिए यातना बन जाता।" उस ने कहा, "वेदालंकार जी से मिलने के बाद पहला काम मैंने यह किया कि त्यागपत्र दे दिया।"

"पर वहाँ दूसरे भी तो थे," सत्या जी ने कहा, "आज चातक जी आये थे। शिकायत कर रहे थे कि उन्होंने 'संस्कृति-समाज' केवल आप के भरोसे चलाया था। वेदालंकार जी तो अलंकार-मात्र थे। और अभी दो बैठकें भी नहीं हुई कि आप छोड़ आये....आप को अलग होना था तो आप ने मुझे मंत्री क्यों बनाया ?"

"चातक जी का बड़ा अनुरोध था," जगमोहन ने कहा, "फिर जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं यह थोड़ी जानता था कि ये सब ऐसे घटिया आदमी हैं। अब आप दो-चार बार काम से मेरे यहाँ आयी हैं, मैं भी दो-एक बार आप के यहाँ गया हूँ। इसी को ले कर उन लोगों ने जितनी बातें की हैं, अब मैं आप से क्या कहूँ ! चातक जी से मैंने कहा तो केवल हँस दिये। मुझे अपना उतना खयाल नहीं, जितना आप का। आप के सगे-सम्बन्धियों के कान में ये बातें पड़ेंगी तो वे क्या कहेंगे ?"

"हम कांग्रेस में काम करते रहे हैं और ऐसी बातों के अभ्यस्त हो गये हैं।"

जगमोहन ने सत्या जी की बात नहीं सुनी। वह अपनी रौ में कहता गया, "मैंने यही सोचा कि मैं त्यागपत्र दे दूँ। न मैं समाज के काम से आप के यहाँ जाऊँगा, न आप मेरे यहाँ आयेंगी और न उन लोगों को बातें करने का अवसर मिलेगा। उस दिन आप को बड़े सूने मार्ग से जाना पड़ा। शुक्ला जी को देख कर आप भाग गयीं। मुझे बड़ा दुख हुआ। क्यों ऐसी स्थिति पैदा की जाय कि यह सब करना पड़े।"

"मैंने तो शुक्ला जी को देखा भी नहीं," सत्या जी ने कहा, "मैं बहुत आगे निकल गयी थी, जब मैंने मुड़ कर आप को उन से बातें करते देखा। तब मेरा खयाल था कि आप लोग उधर ही आयेंगे, पर आप आये ही नहीं। मैंने शुक्ला जी को नमस्ते भी की थी। पर जाने उन्होंने देखा ही नहीं।"

जगमोहन चुप सोचता रह गया।

"देखिए, यदि आप चाहें तो मैं फिर नहीं आऊँगी, पर आप कल भाभी को ले कर अवश्य मेरे यहाँ आइएगा। मैं उन से वचन ले चुकी हूँ। अकेली शायद वे न

आयें। कल इतवार है। हमें छुट्टी है। आप ने कहा था—काम ख़त्म हो जाय तो चलेंगे—इसीलिए हम सात दिन रुके रहे।"

तब जैसे जगमोहन को समझाते हुए सत्या जी ने पंजाबी का एक बैत सुनाया :

कित्थे नस्स जाइए दुनिया-वालियाँ तों
अन्हें कुत्त दे वाँग कुरलान कोलों।
न ते हस्सदियाँ देख के सह सक्कन
न ते रोंदियाँ चुप्प करान कोलों।
पहनो ज़रा सफ़ेद ते उंज कुढ़दे
मैले होण, पये उंज दुरकान कोलों।
की कराँ मैं 'तारिया' नहीं होंदा
किसे गल्ले छुटकारा जहान कोलों।*

और बोलीं, "पिता जी जब कभी लोगों का अपवाद सुनते तो ताराचन्द गुजराती का यह बैत पढ़ा करते। लोगों की बातों पर आप ध्यान देंगे तो चार क़दम चलना कठिन हो जायगा।"

और वे उठीं। लापरवाही से उन्होंने कहा, "ज़रा चलते हैं गोपालनगर तक?"....फिर जगमोहन को चुप देख कर बोलीं, "मन न हो तो बैठिए। नमस्कार! कल दस बजे आप की प्रतीक्षा करूँगी। खाना वहीं होगा।"

"नहीं चलिए, मैं आपको छोड़ आता हूँ।"

और जगमोहन अनमना-सा उनके पीछे चल पड़ा।

०

अपने वचन के अनुसार जगमोहन अपनी भाभी को सत्या जी के यहाँ ले गया था और यद्यपि सत्या जी ने ख़ातिरदारी में कोई कसर न रहने दी थी, पर जगमोहन को कुछ आनन्द न आया था। वह उखड़ा-उखड़ा-सा बैठा रहा था।

---

* दुनिया वालों से हम कहाँ भाग जायँ जो अन्धे कुत्ते की तरह भूँकते हैं। जो न हँसते हुओं को देख सकते हैं और न रोतों को तसल्ली दे सकते हैं। ज़रा सफ़ेद कपड़े पहनो तो कुढ़ने लगते हैं और मैले हों तो पास बैठने नहीं देते। 'ताराचन्द' कहता है कि हम दुनिया वालों से किसी तरह भी छुटकारा नहीं पा सकते।

कारण दो थे। पहला तो यह कि दुरो घर में न थी। जगमोहन को पता चला कि वह इतवार का दिन पुस्तकें बेचने में लगायेगी और साँझ को येलो बस वालों की मीटिंग में शामिल होगी। हरीश जी बस-सर्विस के मज़दूरों के हितार्थ एक 'संध्या-पाठशाला' भी खोल रहे थे और उसका भार दुरो अपने कंधों पर ले रही थी।

दूसरा यह कि सुबह ही से पंडित रघुनाथ उस के दिमाग़ पर सवार थे। सत्या जी ने बताया था कि वे उनके पिता के मित्र और उनके अभिभावक हैं और अब सत्या जी के स्कूल में पढ़ाने भी लगे हैं। जगमोहन प्रातः सैर आदि से लौट कर जब होतूसिंह रोड के हलवाई की दुकान पर लस्सी पीने आया था तो पंडित जी से उस का साक्षात्कार हो गया था।

"कहिए पंडित जी किधर ?" उसने कुछ हँसते हुए पूछा था।

"आज एकादशी है ना," पंडित जी बोले थे, "बिना कंजका (कुमारी कन्या) को भोग लगाये हम कुछ भी मुँह नहीं लगाते। गोपालनगर जा रहा हूँ।" और उन्होंने हाथ का दौना दिखाया, जिसमें दो लड्डू थे। डब्बी बाज़ार के मुहल्ला सिरीन में पंडित जी रहते थे। 'अपने मुहल्ले में इन्हें कोई कंजका ही नहीं मिली जो तीन-साढ़े तीन मील चल कर यह गोपालनगर जा रहे थे।' जगमोहन ने सोचा और हँसते हुए उस ने यही प्रश्न दोहरा दिया।

खिन्न हुए बिना पंडित जी ने बताया कि वे तो वर्षों से एकादशी को सत्या जी का मुंह जुठला कर ही कोई चीज़ मुँह लगाते हैं। और हलवाई को पैसे दे कर वे चले गये।

लेकिन जो चीज़ जगमोहन को बुरी लगी, वह यह थी कि दावत के लिए सत्या जी के घर पहुँचने के कुछ ही देर बाद फिर पंडित रघुनाथ आये थे। सत्या जी नीचे डेवढ़ी में उन से मिलने गयी थीं, शीघ्र ही ऊपर आ गयी थीं और पंडित जी वापस जाने के बदले, सामने एक नये बनते मकान की सीढ़ियों पर जा कर ऐसे बैठ गये थे कि वहाँ से उस कमरे की प्रत्येक गति-विधि का ब्योरा ले सकें।

"पंडित रघुनाथ वहाँ जा कर बैठ गये," जगमोहन ने सहसा कहा, "आप ने उन्हें ऊपर क्यों नहीं बुला लिया ?"

"बैठने दीजिए !"

सत्या जी यद्यपि कई बार बहुत बातें करती थीं, पर यों स्वभाव से वे चुगीती थीं। जिस प्रश्न का उत्तर चार वाक्यों की अपेक्षा रखता हो, उसे वे एक-आध वाक्य ही में निबटा देती थीं।

जगमोहन की दृष्टि बार-बार पंडित रघुनाथ पर जाती और बार-बार वह झुँझला उठता और किसी बात में उस का मन न लगता।

सत्या जी इस बीच निरन्तर भाभी से बातें करती रहीं। भाभी के बच्चे उन से हिल गये। स्वयं भाभी उन से हिल गयी। वह इस प्रकार पसर कर बैठ गयी, जैसे वह अपनी बहन अथवा अन्तरंग सहेली के यहाँ बैठी हो। कोई चीज़ माँगने में उसे किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। पकौड़ियाँ उस ने माँग-माँग कर और लीं, मसाले वाली पहाड़ी मिर्चें तो वह चार खा गयी और पुलाव पर उस ने ऐसे हाथ साफ़ किया, जैसे वह नियामत उसने कभी पहले चखी ही न हो। खाना खा चुके तो भाभी ने एक ओर हारमोनियम पड़ा देखा। "तुम गाती हो ?" उस ने पूछा।

"नहीं, मैं तो नहीं गाती," सत्या जी ने कहा, "चाचा जी की लड़की टूँ-टाँ करती है।"

"तुम ज़रूर गाती हो," भाभी बोली, "ज़रा एक गाना सुना दो।"

तब जगमोहन को न जाने क्या सूझा, उस ने हँसते हुए भाभी के अनुरोध के साथ अपना अनुरोध भी मिला दिया और शरारत से बोला, "नहीं नहीं, आप अवश्य गाना जानती हैं। कम-से-कम एक गाना सुना दीजिए।"

और उसे आश्चर्य हुआ जब सत्या जी ने बाजे का कवर उतारना शुरू कर दिया।

उसने कभी कल्पना न की थी कि सत्या जी गाती भी हैं। पर जब सत्या जी ने एक-आध बार पर्दे पर अँगुलियाँ चला कर 'पूरन भगत' का गाना :

जाओ जाओ रे मेरे साधो, रहो गुरू के संग

गाना आरम्भ किया था तो जगमोहन को बड़ी निराशा हुई थी। निराशा शब्द का प्रयोग उतना ठीक नहीं। उसे कुछ वैसी आशा तो पहले भी न थी; पर सत्या जी ऐसे बेतुकेपन से गायेंगी, इसकी भी उसे कल्पना न थी। न सुर, न लय, न ताल —कहीं ज़रा-सा भी तो लोच न था। दृष्टि बाजे के पर्दों पर गड़ी थी और बड़ी

कर्कश, बेसुरी आवाज़ में वे गाये जा रही थीं :

जाग्रो जाग्रो रे मेरे साधो, रहो गुरू के संग

जगमोहन को खेद हुआ, क्यों उस ने उन से मज़ाक में अनुरोध किया। उसे उन के उस प्रयास पर दया हो आयी। लगता था जैसे किसी ने उन्हें गाने की सज़ा दे रखी है। उस का जी चाहता था, उन्हें बीच ही में रोक दे; कह दे कि मैं तो मज़ाक कर रहा था, पर उन के दिल को ठेस न लगे, इसीलिए वह चुप बैठा रहा। गाना समाप्त हो गया तो यद्यपि भाभी ने उन्हें 'देवदास' फ़िल्म का भी एक गाना सुनाने को कहा, पर जगमोहन बोला, "हटाग्रो भाभी, क्यों इन्हें परेशान करती हो। चलो उठो, अब शाम यहीं काटोगी क्या ?"

सत्या जी ने बाजा उठा दिया। उस पर फिर से खोल चढ़ाते हुए बोलीं, "अब तो आप को विश्वास हो गया कि मैं बिलकुल नहीं गा सकती।"

और उन्होंने आँख उठा कर जगमोहन की ओर देखा—जाने उन आँखों में क्या था—वह पैनी, उदास दृष्टि जगमोहन के हृदय में डूबती चली गयी। उसे बड़ा खेद हुआ, क्यों उसने मज़ाक-मज़ाक में उन से गाने का अनुरोध किया ? किन्तु कहीं दूर हृदय की गहराई में उसे हल्की-सी ख़ुशी भी हुई कि उस के अनुरोध का उन के निकट इतना मान है। वह उठा, "हम ने आप को योंही परेशान किया," उस ने क़हा और फिर वह भाभी से बोला, "अब उठो भाभी चलें !"

पर उसे फिर बैठ जाना पड़ा। सत्या जी भाभी को अपना घर दिखाने ले गयीं और जगमोहन कुछ देर टहलता रहा, फिर बैठ गया। बैठ गया और, जैसा कि पिछले दो-ढाई घण्टों में कई बार हुआ था, उस की दृष्टि पंडित रघुनाथ पर चली गयी। वे उसी प्रकार वहीं सीढ़ियों पर अचल बैठे उन की ओर टकटकी लगाये थे। धूप बाहर ग़ज़ब की पड़ रही थी और वे दो-ढाई घंटे से वहीं सीढ़ियों पर बैठे थे।

तभी सत्या जी भाभी को जैसे घर का प्रत्येक कोना-अँतरा दिखा कर वापस आ गयीं। और वे सीढ़ियों की ओर बढ़े।

सत्या जी उन्हें न केवल नीचे डेवढ़ी तक छोड़ने उतरीं, बल्कि गुरु तेग़बहादुर रोड तक चली आयीं। आते वक्त जगमोहन ने जान-बूझ कर पंडित जी की ओर नहीं देखा। जब वे तेग़बहादुर रोड पर पहुँच गये और क्योंकि एक बजने को

आया था और सत्या जी ने उस समय तक खाना नहीं खाया, इसलिए उन्होंने उन्हें विदा कर दिया तो कुछ और आगे जा कर जगमोहन ने मुड़ कर देखा—पंडित रघुनाथ अपनी जगह से उठ आये थे और सत्या जी से कुछ बहस करते हुए वापस मकान को जा रहे थे।

रास्ते में भाभी सत्या जी की प्रशंसा के पुल बाँधती गयी, बल्कि उस ने तो यहाँ तक कह दिया कि उन्हें हो तो हो, जगमोहन को तो जाति-पाँति का कुछ ख़याल ही नहीं, यदि उसे सत्या पसन्द हो तो वह उस के भाई को मना लेगी।

लेकिन जगमोहन ने इस सम्बन्ध में कोई उत्तर नहीं दिया।

०

साँझ बढ़ आयी थी जब भाभी ने उसे झकझोर कर जगाया—"देखो बाहर वही पंडित जी खड़े हैं।"

"अब यहाँ क्या करने आये हैं?" जगमोहन झुँझला कर तन्द्रिल स्वर में बोला। फिर कुर्ते को गले में लपेट, वह छत पर गया और छज्जे पर से उस ने पंडित जी से कहा कि वे ऊपर आ जायँ।

भाभी फिर नीचे जा अपने काम में व्यस्त हो गयी। पंडित जी ऊपर आ गये। जगमोहन ने इस बीच में कुर्ता पहन लिया था और कुर्सी पर बैठ गया था। पंडित जी आये तो उस ने शिष्टाचार से भरा एक 'नमस्कार' उन्हें किया और आराम कुर्सी पर बैठने को कहा।

पंडित जी बैठे नहीं, मेज़ के साथ सटे खड़े रहे।

क्षण-भर के लिए दोनों की निगाहें मिलीं। पंडित जी की आँखों में कुछ अजीब-सी आक्रामक हिंसा थी। किन्तु जगमोहन के यहाँ हिंसा न थी। वहाँ थी उत्सुकता या फिर झुँझलाहट। उत्सुकता थी पंडित जी के क्रोध का कारण जानने की, उन की प्रतिहिंसा का रूप और प्रकृति जानने की। और झुँझलाहट थी कि वे क्यों ख़्वाह-म-ख़्वाह, अनपेक्ष, अनाहूत उस के जीवन में चले आ रहे हैं। और जैसे उन के वार को सीधा सीने पर ले कर, उस की प्रकृति जानने के उद्देश्य से, वह कुर्सी पर कुछ पीछे को अकड़ कर बैठ गया।

पंडित जी क्षण-भर तक कुछ नहीं बोले। अपनी पैनी दृष्टि के नश्तर से जैसे उस के अन्तर को भेद कर वहाँ का रहस्य जानने की कोशिश करते रहे।

फिर जैसे वहाँ के सब भेद जान कर वे मुस्कराये और बोले, "सत्या यहाँ कब से आती है ?"

सीधे-सादे ढंग से जगमोहन ने कहा, "मैं 'संस्कृति-समाज' का मंत्री था और वे महिला-मंत्री; इसलिए वे आती थीं।"

"आप के ख़याल में अब वह नहीं आयेगी ?"

"कोई कारण तो नहीं। मैंने इसीलिए 'संस्कृति-समाज' से अपना पीछा छुड़ा लिया...."

"आप भूलते हैं, वह आयेगी।"

"हो सकता है," जगमोहन ने सरल भाव से कहा, "भाभी से उन का सहेल-पना है, उस से मिलने शायद वे आयें।"

"आप भूलते हैं !" पंडित रघुनाथ ने ज़ोर दे कर कहा, "वह आप के लिए आयेगी।"

"मेरे लिए ?"

"वह आप से प्रेम करती है।"

"मुझे तो कभी ऐसा नहीं लगा, कभी कोई ऐसी बात नहीं हुई।"

"आप उसे प्रेम करते हैं ?" सहसा पंडित जी ने पूछा।

जगमोहन को इस प्रश्न की स्थूल आकस्मिकता पर बड़ा क्रोध आया, पर संयत स्वर में उस ने कहा, "इस का तो प्रश्न ही नहीं उठता। शान्ता बहन और उन के पति ने अपनी गन्दी मनोवृत्ति के कारण कुछ अपवाद अवश्य फैलाया है, पर अपवाद ही सच्चा हो, ऐसी तो बात नहीं। आप को विश्वास आये या न आये, पर मेरे मन में तो ऐसी कोई भावना नहीं।"

"मैं सत्या के पिता का मित्र हूँ और उसे अच्छी तरह जानता हूँ। वह आप से प्रेम करती है, ज़बान से वह कभी कुछ न कहेगी पर...."

अचानक देर से रुका हुआ जगमोहन का क्रोध फूट पड़ा। "अच्छे आप उनके पिता के मित्र हैं !" वह उठ कर चिल्लाया, "कृपा कर आप यहाँ से तुरन्त चले जाइए ! आप सत्या जी से कह दीजिए—वे यहाँ न आया करें। मैं उन के यहाँ न जाऊँगा... वैसे तो उन का अब यहाँ आने का कोई काम नहीं....पर यहाँ भाभी

से मिलने आयीं भी तो मैं स्वयं उन से कह दूँगा कि वे यहाँ न आयें। आप जाइए !"

पंडित जी को क्रोध नहीं आया, बल्कि उनके चेहरे पर संतोष झलक उठा और वे चुपचाप चले गये।

०

वहीं मेज़ पर टाँगें फैलाये, कुर्सी पर पीछे को लेटा जगमोहन बड़ी देर तक मन-ही-मन उबलता रहा। 'पिता के मित्र !'—वह मन-ही-मन खदबदाया, 'अच्छे सत्या जी के पिता के मित्र हैं ये, जो अपने मित्र की लड़की के प्रति ऐसी दुर्भावना रखते हैं। यदि सत्या जी की निंदा इन्हें सह्य नहीं तो ये सीधे जा कर उन के पिता से कह दें, उन का यहाँ आना बन्द कर दें, न कि जासूसों की तरह चौबीसों घंटे उनके पीछे लगे रहें !'....'पिता के मित्र !'....मन-ही-मन वह व्यंग्य से मुस्कराया....फिर जाने क्यों वह ज़ोर से ठहाका मार कर हँस उठा।

हँसने में कुर्सी पर लेटे-लेटे वह पीछे को कुछ अधिक झुक गया; संतुलन उस का ठीक न रहा; उस की टाँगें मेज़ से उठ गयीं और वह धड़ाम से पीछे को जा गिरा।

हवा में छटपटाती अपनी टाँगों को देखते हुए उसे लगा जैसे भाभी शायद दरवाज़े से भाग कर उसे बचाने आयी है। जब उस के सहारे उठ कर वह खड़ा हुआ और सिर का पिछला भाग सहलाते हुए उस ने सिर उठाया तो देखा उस का बाज़ू थामे सत्या जी सामने खड़ी हैं....

"चोट तो नहीं आयी।

सत्या जी की जगह भाभी होती तो जगमोहन अपनी इस हिमाक़त पर फिर एक बार ठहाका मार कर हँस देता, किन्तु सत्या जी को देखते ही वह गम्भीर हो गया।

"नहीं बच गया हूँ।" कुर्सी को फिर सीधी कर, उस पर पहले की तरह बैठते हुए उस ने कहा।

लेकिन चोट उसे काफ़ी आयी थी। सत्या जी ने उस के सिर के पिछले भाग को छुआ, "यहाँ तो गुमटा उभर आया है।" उन्होंने चितातुर स्वर में कहा और धीरे-धीरे उसे सहलाने लगीं।

वे उस के पीछे कुर्सी से सटी खड़ी थीं। जगमोहन ने कुर्सी खिसका ली और बोला, "पंडित रघुनाथ अभी आये थे।"

"मैंने उन्हें धोबियों के बाड़े की ओर से वापस जाते देखा था।" सत्या जी ने निरपेक्ष भाव से कहा।

"आप को यहाँ न आना चाहिए। जगमोहन बोला।"

सत्या जी ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया।

"देखिए, वे आप के पिता के मित्र हैं। शान्ता जी और भगतराम ने काफ़ी अपवाद फैला रखा है। हम जिस समाज में रहते हैं, वह दकियानूसी है। आप का यों मेरे यहाँ आना ठीक नहीं। आप के पिता को पता चलेगा तो वे क्या कहेंगे? पंडित जी बड़े नाराज़ हैं। वे आप के पिता से कह देंगे। आप के पिता परेशान होंगे। आप स्वयं परेशान होंगी। इस में कोई लाभ नहीं। आप के हित के ख़याल से ही मैंने 'संस्कृति-समाज' के मंत्रीपद से त्यागपत्र दिया था। आप को विश्वास दिलाता हूँ, मैं आप के यहाँ कभी न जाऊँगा।"

सत्या जी क्षण-भर कुछ नहीं बोलीं। वे उठ खड़ी हुईं। क्रोध, ग्लानि, पश्चात्ताप या खेद या कोई और भाव उन के चेहरे पर नहीं आया। सहज-भाव से उन्होंने कहा, "अच्छा न आया करूँगी। पर अब आप तैयार हो जाइए। मैं प्रोफ़ेसर बैजनाथ कपूर से मिली थी। वे मेरे पिता के मित्र हैं। सुबह मैं यह कहना भूल गयी थी। मैंने उन से आप की बात की है। वे आप की फ़ीस माफ़ करा देंगे, दाख़िले और किताबों का भी प्रबन्ध कर देंगे। आप को शायद दो घंटे उन के बच्चों को पढ़ाना होगा। बस इस प्रकार आप आसानी से एम० ए० कर सकेंगे।"

सत्या जी की आँखें सदा की तरह फ़र्श पर गड़ी थीं। जगमोहन के मन में निमिष-भर के लिए उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करने को आवेग-सा उठा, पर उस आवेग से भी बड़ी किसी आन्तरिक शक्ति से उस ने अपने उस आवेग पर काबू पा लिया और जल्दी से तौलिया और खादी का कुर्ता-धोती ले कर तैयार होने चला गया।

पन्द्रह-बीस मिनट बाद वह सत्या जी के साथ प्रो० बैजनाथ कपूर के घर जा रहा था।

सात

हरीश के पिता श्री हरिनिवास मिश्र होशियारपुर में डी० सी० के सरिश्तेदार थे। वेतन तो उन का उस समय चालीस-पचास से अधिक न था, लेकिन अपने वेतन से चार-पाँच, और कई बार आठ-दस गुना मासिक तक वे ऊपर से बना लेते थे। दुनियादार आदमी थे। इस दुनिया को बनाना जानते थे। जहाँ तक उस दुनिया का सम्बन्ध है, उसे बनाने का काम उन्होंने अपनी पत्नी को सौंप रखा था—इह लोक की चिन्ता वे करते थे, परलोक की वह! न इस लोक की चिन्ता के निमित्त की जाने वाली अपनी सरगर्मियों में उन्होंने उसे दखल देने दिया था, न परलोक की चिन्ता में किये जाने वाले उस के अनुष्ठानों में वे हस्तक्षेप करते थे। व्रत-नियम, दान-पुण्य, पूजा-पाठ जो भी उन की पत्नी करती, उस में वे किसी आपत्ति के बिना योग देते। उस समस्त दान-पुण्य, पूजा-पाठ के लिए रुपया कहाँ से आता है, न कभी उस ने पूछा था, न उन्होंने बताया था। वह उस रुपये को उन की नौकरी का आवश्यक अंग समझती थी—उसे भी वेतन-सरीखा मानती थी। उस में कुछ पाप भी है, यह उस अनपढ़, धर्मपरायण, भोली-भाली स्त्री ने कभी न समझा था। अपने पति को वह दया-माया की मूर्ति, सत्यवादी और पुण्यात्मा समझती थी। देखने में भी पंडित हरिनिवास मिश्र हर तरफ़ से धर्मपरायण और पुण्यात्मा दिखायी देते थे। बालक हरीश ने बचपन ही से अपनी सरला माँ के उपदेशों से सत्य के लिए जो अनुराग पाया, वह युवा होने पर और संसार की लम्पटता को देख कर भी वह न छोड़ सका।

पिता अपने पुत्र को प्रसिद्ध एडवोकेट बने देखना चाहते थे। अपने अफ़सरों के लिए उन के मन में अधिक श्रद्धा न थी। उन के अफ़सर साल-भर में जितना कमाते थे, कई नामी एडवोकेट एक महीने में उससे ज़्यादा कमा लेते थे। किन्तु बच्चे पर पिता के सपनों के बदले माँ के सपनों का अधिक प्रभाव था। यही कारण है कि जब हरीश केवल आठवीं श्रेणी में पढ़ते थे तो इक्कीस के आन्दोलन में अपने स्कूल के छात्रों का नेतृत्व करते हुए गिरफ़्तार हो गये थे।

हरीश के मस्तिष्क में उन दिनों की स्मृति अमिट प्रभाव छोड़ गयी थी। जलियाँवाला बाग़ में जब हत्याकांड हुआ, उस समय वे छठी में पढ़ते थे। ऊपर से सभ्य, पर अन्तर में क्रूर अँग्रेज़ व्यापारियों के प्रतिनिधि डायर ने बाग़ के अहाते

में, 'रौलेट-ऐक्ट' के विरोध में स्थानीय नेताओं के भाषण सुनने को इकट्ठे होने वाले सहस्रों निहत्थे लोगों को भून डाला था। उन वीरों की कहानियाँ, जिन्होंने सीनों पर गोलियाँ खायी थीं, पर अपनी जगह से हिले तक न थे; उन माओं के किस्से जो बच्चों को दूध पिलाते-पिलाते गोली का शिकार बन गयी थीं; उन बच्चों और वृद्धों के पिस जाने की घटनाएँ, जो भगदड़ में रास्ता न पा सके थे; उस अपार जन-समूह का क्रन्दन, जिसे चूहेदानी में बन्द चूहों की तरह, निकलने का मार्ग रोक कर भून डाला गया था—कई गुना बढ़ कर पंजाब के मुहल्ले-मुहल्ले, गली-गली, घर-घर फैल गया था। उन घटनाओं पर कितना रंग चढ़ा, यह उस आवेश में जानना कठिन था। हरीश पर एक घटना का विशेष प्रभाव था। अमृतसर के किसी लड़के के सम्बन्ध में (नाम हरीश को याद नहीं रहा) जो शायद अपने स्कूल में हॉकी का कप्तान था, यह बात प्रसिद्ध हो गयी थी कि उसने ग्यारह गोलियाँ अपनी स्टिक पर रोकीं और बारहवीं उस के सीने में लगी और वह शहीद हो गया। वास्तविकता क्या थी, यह तो हरीश को मालूम नहीं। कदाचित् उसके शरीर पर बारह गोलियाँ लगी थीं या कुछ ऐसी ही बात होगी। पर लड़कों में तो यहाँ तक प्रसिद्ध हो गया कि वह अपनी स्टिक से गोलियाँ रोकता हुआ डायर की ओर बढ़ता जा रहा था। यदि उसे बारहवीं गोली चित्त न कर देती तो वह स्टिक से डायर का सिर फोड़ देता।

और फिर १९१९ से २१ तक के वे जोशीले दो वर्ष....असहयोग और ख़िलाफ़त-आन्दोलन के वे उत्साह-भरे दिन....हरीश को वह दिन अच्छी तरह याद था, जब आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। स्कूल के बाहर सड़क पर किसी ने स्टूल पर खड़े हो कर बिगुल बजाया और मिनटों में सारा स्कूल ख़ाली हो गया। और फिर वह मीलों लम्बा जुलूस और वह गाना :

नईं रखनीं....नईं रखनीं, सरकार ज़ालिम नईं रखनीं

और

सौ लानत भेजो कायर नूँ !
गोलियाँ तेरियाँ, सीने साडे, कह देओ जा के डायर नूँ ।[1]

---

१. कायर को सौ लानत भेजो (धिक्कार दो) और डायर से जा कर कह दो कि तेरी गोलियाँ हैं और हमारे सीने हैं और हम ज़रा नहीं डरते।

एक लड़का ज़ोर से चिल्लाता "**सौ लानत भेजो कायर नूँ !**" शेष कंठ की पूरी आवाज़ से अपने सीनों को घूँसों से गुंजाते हुए गाते :

गोलियाँ तेरियाँ सीने साडे, कह देओ जाके डायर नूँ !

कैसा जोश था, कैसा उत्साह था, शहीद हो जाने की कैसी लगन थी....!

और जलियाँवाला बाग़, असहयोग आन्दोलन और हिन्दू-मुस्लिम एकता ज़िंदाबाद के नारे, नेताओं के जयकारे और प्रिंसिपल और उस के दो-एक दूसरे ख़ुशामदी अध्यापकों की मुर्दाबाद के गगन-चुम्बी घोष ! जब वे घर पहुँचे थे तो लगता था, जैसे सचमुच स्वराज्य ले आये हैं ।

और उन्हीं दिनों हरीश ने देखा, होशियारपुर का प्रसिद्ध गुंडा और बैतबाज़ 'फुम्मन' अचानक अपनी गुंडई छोड़, देश-भक्त बन गया है । महात्मा गांधी ने जब स्वराज्य-मन्दिर को (जेलों को यही नाम दिया गया था) बसाने का हुक्म दिया तो सबसे पहली टोली में दूध-जैसी सफ़ेद खादी की कमीज़ और पायजामा पहने और गले में खादी के फूलों का हार डाले, अपने ही गाने गाता हुआ कवि फुम्मन भी था । हरीश एक दुकान के तख़्ते पर खड़े, यह सब देख रहे थे । फुम्मन की चाल में, उस के स्वर में कुछ अजीब जोश था; उस के मुख पर एक अलौकिक तेज था । तब हरीश के मन में आयी थी कि वे कुछ करें ! खड़े-खड़े एकदम फट पड़ें ! भागे-भागे जा कर जेल के सीख़चों को तोड़ कर अन्दर घुस जायें ! उन के पाँवों को जैसे पंख लग गये थे । वे उन नेताओं के पीछे हो लिये थे, पर जेलवालों ने उन चारों नेताओं को पकड़ लिया था और शेष नारे लगाते वापस आ गये थे ।

फिर रोज़ नया डिक्टेटर बनता, टोलियाँ इकट्ठी होतीं और नारे लगाती जेल चली जातीं । विदेशी कपड़े की दुकानों पर पिकेटिंग की गयी, शराब की दुकानों पर धरना दिया गया; विदेशी कपड़े की होलियाँ जलायी गयीं; सूत के गोले लंकाशायर पर फेंके गये—हर तरकीब से स्वराज्य-मन्दिरों को भरा गया ।

उन्हीं दिनों हरीश भी, अपनी कमसिनी के बावजूद, डिक्टेटर बने, गिरफ़्तार हुए और उन्हें तीन महीने की सज़ा हुई । अपने लड़के के इस कृत्य का क्या जवाब मिश्र जी ने अफ़सरों को दिया, इसे तो कोई नहीं जानता, पर उन्होंने अपनी दो-रुख़ी नीति के साथ मुहल्ले की वाह-वा भी ले ली और अफ़सरों को

भी सन्तुष्ट कर दिया। जहाँ अधिकांश दूसरी महिलाओं ने अपनी पुरानी फटी साड़ियाँ जलाने को दीं, उन की पत्नी ने एकदम नयी साड़ी होली में फेंक दी। पंडित जी ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की, बल्कि अपनी एक नयी कमीज़ भी पत्नी को दे दी कि उसे विदेशी कपड़ा माँगने के लिए आनेवालों को दे दे। आनेवालों ने उन की पत्नी के साथ उन की जय के नारे भी लगाये। पर अपने अफ़सर के सामने उन्होंने अपने लड़के और अपनी पत्नी के कृत्य के लिए क्षमा माँग ली और मुहल्ले में कौन-कौन इस 'कुकृत्य' में भाग लेता है, इस की पूरी-पूरी सूचना देने का वचन दिया। पुत्र को बिना उस से माफ़ी मँगाये छुड़ा लिया और तत्काल उसे उस की माँ के साथ उस के ननिहाल के पहाड़ी गाँव 'गगरेट' भेज दिया और तब तक नहीं आने दिया जब तक आन्दोलन की आग सर्द नहीं पड़ गयी।

हरीश जी ने १९३० के आन्दोलन में भी भाग लिया था और यद्यपि उस बार उन्हें तीन वर्ष की सज़ा हुई, पर गांधी-इरविन-पैक्ट के अनुसार वे छै महीने कैद भोग कर ही रिहा हो गये।

१९३१ में जब दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के बाद फिर आन्दोलन आरम्भ हुआ, हरीश जी ने उस में भी हिस्सा लिया था। किन्तु इन आन्दोलनों के बाद देश के वातावरण में जो निर्जीव शून्यता आ जाती थी और साम्प्रदायिक दंगे फूट निकलते थे, वे हरीश जी के लिए बड़ी मानसिक यातना का कारण बन जाते थे। पिता के ज़ोर देने पर उन्होंने चार वर्ष पहले कानून भी पास किया था और बहुत अच्छे नम्बरों से पास किया था, पर न तो वे अपने स्नेही प्रोफ़ेसरों के कहने पर पी० सी० एस० के कम्पीटीशन में बैठे, न वकालत ही कर सके....अंग्रेज़ के अधीन डिप्टी-कलक्टर और मैजिस्ट्रेट जिस प्रकार न केवल स्वयं बँधे थे, वरन् दूसरों को भी बाँधते थे और जिस प्रकार न्याय का खून कर, जनता के शोषण और अत्याचार के साधन बनते थे, उस सब से हरीश को बड़ी घृणा होती थी। उस की अपेक्षा आज़ादी से वकालत करना और न्याय के लिए लड़ना वे कहीं अच्छा समझते थे। दुर्भाग्य से उन छै महीनों ही में, जब वे ट्रेनिंग ले रहे थे और प्रतिदिन कचहरी जाते थे, इस पेशे के कुछ ऐसे कटु अनुभव उन्हें हुए कि उन का मन वकालत से एकदम फिर गया।

हुआ यह कि होशियारपुर में छै महीने ट्रेनिंग ले कर लाइसेंस लेने के बदले हरीश जी ने लाहौर ही के एक प्रसद्धि एडवोकेट पंडित श्यामचरण दास से ट्रेनिंग लेने का निश्चय किया।

हरीश जी को वकालत का नया-नया शौक था। जैसे नया मुल्ला अल्लाह-ही-अल्लाह और नया अफ़सर काम-ही-काम पुकारता है, वे भी चाहते थे कि जल्दी ही कोई मुकदमा उन्हें दिया जाय; वे उस की तैयारी करें; अदालत में जा कर बहस करें और मामले को जीतने का संतोष प्राप्त करें। पंडित जी उन्हें कोई केस अकेले करने को न देते। आख़िर एक दिन शाम को उन्होंने कहा, "लो भाई, आज एक मुवक्किल एक अपील के बारे में सलाह लेने आया था, फँस गया तो वह केस तुम्हें दे देंगे।"

"कैसा केस है?"

,,इन्सॉलवेंसी-ऐक्ट[1] की धारा तेरह के अधीन है। तुम्हें इन्सॉलवेंसी ऐक्ट याद है न?"

"जी हाँ!" और हरीश जी ने फ़र-फ़र वह धारा पढ़ कर सुना दी।

"बस तो फिर तुम्हीं वह करना।"

"कुछ उस के सम्बन्ध में बता दीजिए, ताकि मैं कुछ तैयारी अभी से आरम्भ कर दूँ।"

"ऐसी क्या जल्दी है, उसे आ तो लेने दो।"

उतावलेपन के बावजूद हरीश में यथेष्ठ ठहराव था। वे शाम को अपने साथियों के साथ घूमने गये; एक पिक्चर भी उन्होंने देखी, रात को उपन्यास भी पढ़ा, इस पर भी उनके दिमाग़ के किसी कोने में उस मामले की बात घूमती रही और 'इन्सॉलवेंसी-ऐक्ट' निकाल कर उन्होंने उस की तेरहवीं धारा और उसके सम्बन्ध में आवश्यक मुक़दमे और हाईकोर्टों के रूलिंग[2] पढ़े।

रात वे ठीक तरह से सो नहीं पाये और सुबह समय से कुछ पहले ही उठे। नित्यकर्म से निवृत्त हो, नाश्ता आदि समाप्त कर वे आठ बजे के लगभग वकील साहब के यहाँ पहुँच गये।

---

१. दीवालियेपन का कानून। २. फ़ैसले।

मुवक्किल ठीक सवा नौ बजे आया। पेशे से राजगीर था। उस का मामला सीधा था। दीवालियेपन की घोषणा करने से पहले उसके एक निकट-सम्बन्धी ने अपना एक मकान दो हज़ार रुपये में उस के हाथ बेच दिया था, पर क्योंकि वह सौदा दीवालियेपन की घोषणा से पहले दो वर्ष के अन्दर-अन्दर हुआ था, इसलिए सरकारी रिसीवर ने उस विक्रय को 'फ़्रॉडूलेंट' (कपट-पूर्ण) ठहराया था, जिसका उद्देश्य रिसीवर को ठगना था। उसी धारा के अधीन मकान रिसीवर ने अपने अधिकार में कर लिया था।

राजगीर का कहना था कि उसे उस सम्बन्धी की आर्थिक स्थिति का कुछ ज्ञान न था; उस ने सचमुच अपनी और अपने पुरखों की सारी पूँजी उस मकान पर लगा दी थी; कि उस ने वह रुपया रजिस्ट्रार के सामने दिया था और इस कारण उस पर कुछ कर्ज़ भी चढ़ गया था। लोअर-कोर्ट में वह मामला हार गया था, अब वह सेशन में अपील करना चाहता था।

पंडित श्यामचरण ने उस से अपनी फ़ीस, अपने मुन्शी की फ़ीस, टाइपिस्ट का एक रुपया और मिसलें देखने के लिए दो रुपये ले लिये थे।

राजगीर कोई पैंतालिस-पचास वर्ष का पतला-दुबला मँझले कद का आदमी था। मैली-सी तहमद और कमीज़ उसने पहन रखी थी। पैरों से नंगा था। लगता था, कई दिनों से उस ने हजामत न बनवायी थी। उसकी शक्ल से तो ऐसा मालूम होता था, जैसे उस ने कई दिनों से पेट-भर खाना भी नहीं खाया था। जाने आधे-पेट खाना खा कर उस ने मामला लड़ने के लिए वकील की फ़ीस जुटायी थी। उस के मुख पर कुछ ऐसी करुणा थी कि हरीश जी को उस पर बड़ी दया आयी और उन्होंने फ़ैसला किया कि मिसलें लेने के बाद वे दिन-रात श्रम करेंगे, प्रिवी-कौंसिल से ले कर भारत के सभी हाईकोर्टों के रूलिंग ढूँढ़ेंगे और उस राजगीर का मामला जिताने में एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा देंगे।

जब राजगीर चला गया तो हरीश जी ने पंडित से कहा, "मुन्शी से कहिए, आज मामले की मिसलें निकलवा दें, ताकि मैं आज ही से तैयारी शुरू कर दूँ। मेरे ख़याल में मामले में इतना तो दम है कि उसे लड़ा जा सके।"

"अभी क्या जल्दी है," पंडित जी ने बेपरवाही से कहा, "अभी तो अपील के लिए दरख़्वास्त दी जायेगी, फिर तारीख़ पड़ेगी, तब तुम देख लेना।"

हरीश रोज़ इस बात की प्रतीक्षा करते कि उन्हें मामले की मिसलें देखने को मिलेंगी और वे लॉ-रिपोर्टर देखने शुरू करेंगे, लेकिन एक महीना बीत गया और वकील साहब या उनके मुन्शी ने उन्हें मामले की कोई ख़बर नहीं दी। एक दिन जब वे पंडित श्यामचरण के यहाँ पहुँचे तो उन्होंने कहा, "देखो हरीश, आज उस राजगीर वाले मामले की तारीख़ है, तुम ज़रा उसे निबटा देना।"

"लेकिन जी, मुझे तो उस मामले के बारे में कुछ भी मालूम नहीं।"

"कचहरी में सब बता देंगे।"

लेकिन कचहरी में पंडित जी को उन से बात करने का भी अवसर नहीं मिला। उन्हें उस दिन दो-तीन मुकदमों में पेश होना था। वे एक अदालत से भागते हुए आये और हरीश जी से यह कह कर कि वे सेशन की अदालत में जा कर खड़े हों, वे पहुँचते हैं, यदि पुकार हो तो उस मामले को निबटा दें, नहीं इतने में वे पहुँच जायेंगे—फिर दूसरी अदालत में पेश होने को भाग गये।

मुन्शी उन्हें सेशन जज की अदालत में ले गया। हरीश ने बड़े चितातुर स्वर में मुन्शी से पूछा कि अगर पंडित जी समय पर न पहुँचे तो वे क्या कहेंगे, उन्हें तो राजगीर का नाम भी मालूम नहीं।

"अजी आप फ़िक्र न करें, कुछ भी कह दीजिएगा।"

समय पर आवाज़ पड़ गयी। पंडित जी शायद दूसरी अदालत में व्यस्त थे। हरीश सख़्त परेशानी की दशा में अदालत में गये। गम्भीर मुँह बनाये और सूट के साथ आर्यसमाजियों-जैसी घुटी हुई पगड़ी बाँधे सेशन जज बैठे थे।

"इस केस की कौन पैरवी करेगा?" उन्होंने अँग्रेज़ी में पूछा।

हरीश ने बताया कि वे उस की पैरवी करेंगे, तो जज ने पूछा कि क्या उन के पास लाइसेंस है? जब उन्होंने कहा कि श्री श्यामचरण दास के साथ वे काम कर रहे हैं तो जज साहब ने एक मेज़ की ओर संकेत किया और बोले, "स्पीक फ़्रॉम देअर!"[१]

अब हरीश क्या कहें? क्षण-भर के लिए उन की दृष्टि राजगीर पर गयी। उस ने सेशन जज की अदालत में उपस्थित होने के उपलक्ष में हफ़्तों से बढ़ी

---

१. वहाँ खड़े हो कर बोलो।

अपनी दाढ़ी बनायी थी, चौड़ी धारी की गबरून का कुर्ता और नया तहमद पहना था। उस एक निमिष में हरीश ने यह भी देखा कि दोनों कपड़े कोरे हैं। उनके हृदय को कोई चीज़ कचोटती-सी चली गयी। वे क्या कहते ? कुछ गुनगुन करते हुए उन्होंने यह कहा कि केस बिलकुल सीधा है, हमारे मुवक्किल ने मकान का रुपया दिया है और रिसीवर को यह मकान लेने का कोई अधिकार नहीं।

पर उन के ये वाक्य स्वयं उनके कानों को सुनायी नहीं दिये। जज ने क्या फ़ैसला दिया, उतनी दूर से उन्होंने नहीं सुना, पर बाहर निकलते ही मुन्शी ने बता दिया कि मामला डिसमिस हो गया है।

हरीश जी को इतनी ग्लानि और क्षोभ हुआ कि कुछ क्षण उनके मुँह से बात तक न निकली। उन्होंने मुन्शी से कहा, "मुझे बड़ा दुःख है, यह मामला जीता जा सकता था।"

"अजी आप ज़रा फ़िक्र न करें, वकालत में यह रोज़ की बात है। आप जैसे वकील हमारे हाथों बन गये। कल आपको इसका ज़रा भी मलाल न रहेगा...."

वह अभी बात कर ही रहा था कि पंडित जी भागम-भाग आ पहुँचे।

"क्यों क्या हुआ ?" उन्होंने राजगीर से पूछा, जो ज़रा परे, मुँह लटकाये हुए चला जा रहा था।

"ख़ारिज हो गया।" मुन्शी ने कहा।

"मुझे तो पहले ही उम्मीद थी," पंडित जी किंचित् हँस कर बोले, "यह जज कम्बख़्त कट्टर किस्म का हिन्दू है, कभी मुसलमान के हक़ में फ़ैसला नहीं देता।" फिर राजगीर से बोले, "तुम ऐसे करो, इसकी अपील कर दो। हम इसे जस्टिस हकीमुद्दीन की अदालत में रखायेंगे।" और उन्होंने मुन्शी की ओर समर्थन के विचार से देखते हुए कहा, "क्यों मुन्शी जी, हकीमुद्दीन से मैं कह दूँगा, कल ही तो चाय पर हम इकट्ठे थे।"

"जी और क्या !" मुन्शी ने समर्थन किया, "हकीमुद्दीन साहब की अदालत में मामला गया तो आप को कुछ कहने की नौबत भी न आयेगी, वे आप के ऐसे दोस्त हैं !"

और दोनों ने मिल कर राजगीर से बीस रुपये हाईकोर्ट में अपील करने के सिलसिले में और हथिया लिये। क्रोध और क्षोभ से सुलगते हुए हरीश जी घर

आये। कानून की सब किताबें उन्होंने बेच डालीं और फिर कचहरी का मुँह नहीं देखा।

उन के पिता को जब पता चला कि उन के लड़के ने वकालत से हाथ खींच लिया है तो उन्होंने उसे होशियारपुर बुलाया। हरीश वहाँ गये, पर पिता के तमाम समझाने-बुझाने के बावजूद अपने हठ पर कायम रहे। जब पिता ने धमकी दी कि लाहौर की आवारागर्दी के लिए उन के पास पैसा नहीं तो हरीश ने कहा कि वे एक पैसा भी उन से न मँगायेंगे। वे लाहौर आ गये। ख़र्च चलाने को छोटी-मोटी नौकरी करते और शेष समय देश-सेवा में लगाते।

०

नूरदीन का बड़ा अनुरोध था कि यूनियन का आफ़िस उस के अपने घर में बनाया जाय, लेकिन हरीश ने उस को समझा दिया कि 'कमर्शल बिल्डिंग्ज़' में दूसरी यूनियनों के भी दफ़्तर हैं, इसलिए न केवल दूसरे मजदूर-नेताओं की सहायता ली जा सकती है, बल्कि यदि कभी स्ट्राइक करने की नौबत आयी तो उन से अनुरोध किया जा सकता है कि हमारे साथ सहानुभूति के रूप में वे भी स्ट्राइक करें; और हम जो माँग पेश करेंगे, उन्हें मनवाने में इस से आसानी रहेगी।

और सचमुच जिस दिन हरीश ने 'येलो-बस-सर्विस-यूनियन' का बोर्ड लगा दिया और उस के उद्घाटन के लिए सभा की, उस दिन कोई ही सर्विस ऐसी होगी जिसके कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व वहाँ न हो।

हरीश ने उस दिन कई प्रसिद्ध मज़दूर नेताओं को भी बुला लिया था। कमरे में तिल रखने की जगह न थी। सब से पहले हरीश ने आगत नेताओं का परिचय दिया और मिर्ज़ा इबराहीम से, जो रेलवे-मज़दूरों के पुराने मँजे हुए सफल नेता थे, 'येलो-बस-सर्विस-यूनियन के' मज़दूरों को उनके इस प्रयास में परामर्श और आशीर्वाद देने को कहा।

मिर्ज़ा इबराहीम स्वयं मज़दूर थे—वर्कशाप में काम करते थे, मज़दूरों के मनोविज्ञान को जानते थे। "जब तक आप की कोई यूनियन नहीं, आप में एका नहीं," उन्होंने कहा, "आप यह समझिए कि आप के पेट और ज़बान की चाबी आपके पास नहीं। लेकिन अगर आप इकट्ठे हो कर यूनियन बना लेते हैं तो फिर किसी मैनेजर या मालिक की ताब नहीं कि वह आप में से किसी बेकसूर

पर जुर्माना कर दे, आप में से किसी को डिमोट कर दे, सस्पेंड कर दे या निकाल दे। तब आप के पेट और ज़बान की चाबी आप के हाथ आ जायेगी।"

नूरे को मिर्ज़ा की यह उपमा बड़ी अच्छी लगी। वह दो-एक पैग चढ़ाये हुए भी था। अपनी जगह बैठे-बैठे उस ने ज़ोर से ताली बजायी और 'येलो-बस-यूनियन ज़िंदाबाद' का नारा कंठ के पूरे ज़ोर से तीन बार लगाया। जब वह नारे लगा चुका तो भाषण देने के अन्दाज़ में उठ कर खड़ा हो गया।

'इन्हाँ सानूँ समझिया की ऐ?" वह चिल्लाया, "असाँ इन्हाँ नूँ ठीक कर देणा ऐं। मैंनूँ इंस्पेक्टरों कंडक्टर बना दित्ता, लेकिन असाँ मज़दूराँ हुण...."

वह उपस्थित नेताओं के अस्तित्व को लगभग भूल चुका था कि हरीश जी ने उस के निकट जा कर उसके कंधे पर हाथ रख, उसे समझा दिया कि नेताओं के भाषणों के बाद उस का भी भाषण होगा।

o

दुरो नेताओं के पीछे कोने में सिकुड़ी बैठी थी। मज़दूरों की किसी सभा में जाने का यह उसका पहला अवसर था। अगस्त की उमस थी और हाल में बेपनाह भीड़—जिसमें ड्राइवर थे, इंस्पेक्टर थे, कंडक्टर थे, क्लीनर थे, चौकीदार और मोटर-मेकेनिक थे। इन मज़दूरों में से अधिकांश सीधे काम पर से मीटिंग में चले आये थे। कपड़े तो अकसर के खादी ही के थे, पर वे तेल और मिट्टी से ऐसे काले हो गये थे कि उन्हें पहचानना कठिन था। क्लीनरों और मोटर-मिस्त्रियों का तो यही हाल था। ड्राइवरों के कपड़े उनसे कुछ अच्छे थे, कंडक्टरों और इन्स्पेक्टरों के कुछ उनसे अच्छे, लेकिन साफ़ किसी के भी न थे। घुन लगे अनाज में जैसे यह जानना कठिन हो जाता है कि कौन दाना अधिक घुना है और कौन कम, इसी प्रकार उन के कपड़ों की सफ़ाई का अन्तर जानना कठिन था। तेल, पेट्रोल और पसीने की गंध इंसानी साँस, बीड़ी और सिगरेटों के धुएँ से मिल कर कुछ ऐसी घुटन कमरे में पैदा कर रही थी कि दुरो के लिए साँस लेना दुष्कर हो रहा था। नेता क्या बोल रहे हैं, वह न सुन रही थी। उस का जी घुट रहा था। कुछ अजीब-सी घुटन-भरी तीखी तेज़ाबी गंध उसके सिर को घुमा रही थी। कनपटियों में दर्द होने लगा था और उस का जी चाहता था कि किसी तरह बाहर निकल कर दो-चार लम्बी-लम्बी साँसें भरे तो उस की जान में जान आये।

'काश यह मीटिंग कहीं खुले में होती !' साड़ी के छोर से आधे मुँह को छिपाते हुए उस ने नाक दबा ली। पर उसे साँस रुकती-सी लगी। नाक-मुँह से कपड़ा हटा, वह पल्लू से हवा करने लगी। लेकिन हवा कहीं बाहर से आती तो उसे आराम मिलता।

उसकी दृष्टि हरीश पर गयी। वे उस उमस और घुटन से बेपरवाह, उस हुजूम का अंग बने बैठे थे। दुरो ने अपने-आप को धिक्कारा—उस ने हरीश से अनपढ़ मज़दूरों को शिक्षा देने, मज़दूर-स्त्रियों से सम्बन्ध बनाने, उन्हें यूनियन के लाभ बताने और अन्य स्वतन्त्र देशों की नारियों के किस्से सुना कर उन की चेतना को जगाने का वादा किया है। यदि वह इतनी सुकोमल बनी रहेगी तो क्या काम कर सकेगी ? और तभी उस के सामने हरीश का एक भाषण घूम गया, जिस में उन्होंने कहा था, 'मज़दूरों में काम करने के लिए आप को मज़दूरों के स्तर पर उतरना पड़ेगा।'

'इन लोगों में काम करने के लिए इनके स्तर पर तो उतरना पड़ेगा ही,' दुरो ने हरीश जी की बात को मन-ही-मन दोहराते हुए कहा, 'तभी तो इनके जीवन की कठिनाइयों, इन के जीवन के दुख, व्यथा, मलिनता और गन्दगी, इन के अरमानों और हसरतों, भावनाओं और अनुभूतियों का पता चलेगा। उसे इस गंध का अभ्यास डालना होगा।'....लेकिन उस का जी घुटा जा रहा था और कनपटियाँ फटी जा रही थीं। दूसरे नेता बैठ गये थे और तीसरे नेता भाषण दे रहे थे।

'कहीं मैं पल-भर को बाहर बारजे पर जा सकती !' दुरो सोच रही थी। उसका सिर फटा जा रहा था और जी मतला रहा था।

'क्या मैं इस वातावरण की आदी न हो सकूँगी ?' उस ने सोचा, 'मुझे बराबर यहाँ आना पड़ेगा, फिर न मेरा सिर दुखेगा, न जी मतलायेगा....गन्दी नाली को साफ़ करने के लिए उस में हाथ तो डालना ही होगा, उसकी दुर्गंध और छींटों से कैसे बचा जा सकता है ?....' और उसने दायें हाथ के अँगूठे और तर्जनी से दोनों कनपटियों को कसते हुए दाँत भींच लिये।

नूर उस समय बड़े ज़ोर से भाषण दे रहा था, "मिर्ज़ा होराँ ठीक आखिया ऐ। साडे ढिड्ड ते जीभ दी चाभी साडे पास नईं। इन्हाँ मालिकाँ ओस नज़र-

बन्द कर रक्खिया ऐ। लेकिन असाँ ओहनूँ छुड़ा लियाणा ऐं। असाँ ओस अपने कब्जे विच कर लेणा ऐं।"[1]

सभा में किसी ने कहा 'इन्क़लाब !' और हॉल 'ज़िन्दाबाद' के नारों से गूँज उठा। फिर नूरदीन, हरीश, मिर्ज़ा, मुन्शी, दूसरे नेताओं और यूनियन—सब की ज़िन्दाबाद के नारे बुलाये गये।

नूरदीन अभी कुछ और कहने के लिए रुका हुआ था, पर हरीश ने उठ कर आगत नेताओं को धन्यवाद दिया, मज़दूरों को इतनी संख्या में आने के लिए शाबाशी दी; नूरदीन की पीठ ठोंकी, अगली मीटिंग के दिन की घोषणा की; यह कहा कि उस दिन सब अपनी-अपनी माँगें लायें, बतायें कि उन्हें क्या-क्या शिकायतें हैं, ताकि वे माँगें मालिकों के आगे रखी जायँ और सभा विसर्जित कर दी।

दुरो सब ओर से बेपरवाह, वाद-विवाद करते लोगों की भीड़ में से मार्ग बनाती, लपकती हुई-सी, बरामदे में आयी और सिर थामे बैठ गयी। उसका जी मलता रहा था, पर क़ै न हो रही थी। हर बार वह क़ै करने के लिए मुँह खोलती और स्वच्छ हवा अन्दर भर लेती और उसकी कनपटियों में कोई हथौड़े मारता। जाने वह कब तक बैठी रही। उसे लगा कि जैसे कोई प्यार से उसके सिर पर हाथ फेर रहा है। कनपटियों को थामे-थामे उसने सिर उठा कर देखा—हरीश थे। उस का सिर फिर झुक गया।

०

कमर्शल बिल्डिङ्ग्ज़ से वापस आ कर दुरो ने किसी से बात नहीं की। वह न नहायी, न उसने कपड़े बदले। मुँह-हाथ धो कर अपने बिस्तर में जा लेटी।

बिस्तर गर्म था। लेकिन उस गर्मी में भी उसे कुछ अजीब-सी राहत मिली। शुक्ल-पक्ष के चाँद की एक बड़ी-सी फाँक ऊपर आकाश में चमक रही थी। दुरो को लग रहा था, जैसे वह एक छोटे, सीमित, गर्मी से धधकते हुए बिस्तर पर नहीं, ठंडी-ठंडी घास के किसी सीमाहीन बिछौने पर लोट रही है। उसका जी

---

१. मिर्ज़ा साहब ने ठीक कहा है। हमारे पेट और ज़बान की चाबी हमारे पास नहीं। मालिकों ने उसे नज़रबन्द कर रखा है। लेकिन हम उस चाबी को मुक्त करा लायेंगे। हम उसे अपने क़ब्जे में रखेंगे।

चाह रहा था कि वह चाँद के उस धूमिल-से प्रकाश को बाहों में भर ले और घास के उस नर्म बिछौने पर लोटती जाय, लोटती जाय....यहाँ तक कि थक जाय.... और उसी प्रकार चाँदनी के नीचे, घास के उस बिछौने पर सो जाय !

उस के सिर में पीड़ा अब भी थी, लेकिन उस का ज़ोर कम हो गया था। और उस की आँखों के सामने शाम के चित्र एक के बाद एक चले आ रहे थे :

....हरीश जी ने जब देखा था कि दुरो की तबीयत ठीक नहीं, उस के सिर में दर्द है और जी घबरा रहा है तो अपने साथियों को विदा कर, वे उसे कंधे से थामे नीचे ले आये थे। यद्यपि दुरो ने कहा था कि कमरे की गर्मी और घुटन के कारण उस का सिर दर्द करने लगा है, वह घर जा कर नहायेगी और छत पर जा लेटेगी तो ठीक हो जायेगी, तो भी हरीश जी स्वयं नीचे ड्रगिस्ट से जा कर कैफ़ी-एस्पीरीन ले आये और दुरो को कमरे की उस गर्मी और घुटन से चैम्बरलेन रोड पर नये-नये खुले कॉफ़ी-हाउस में ले गये थे।

"मैंने तो कभी कॉफ़ी नहीं पी !" दुरो ने कहा था।

"चाय पी है कभी ?"

"हाँ चाय तो कई बार पी है।"

"तो एक बार कॉफ़ी भी पी देखिए," हँस कर हरीश जी ने कहा था, "कड़वी तो है, लेकिन ज़हर नहीं। कॉफ़ी के एक प्याले के साथ एस्पीरीन की दो टिकियाँ ले लीजिए। तबीयत कुछ सम्हल जायगी।"

दुरो चुप रही।

"और यदि कॉफ़ी अच्छी न लगे तो ठण्डे पानी से निगल लीजिए।" हरीश ने कहा।

बैरा कॉफ़ी के दो छोटे-छोटे, कॉफी ही के रंग के, भूरे-भूरे जग और प्याले ले आया।

कॉफ़ी प्यालों में ढालते हुए हरीश बोले, "दूध मैंने आप के प्याले में ज़्यादा डाल दिया है कि आप को अधिक कड़ुवी न लगे और आप कॉफ़ी और उस के साथ-साथ मुझ को दिल में न कोसें।"

और हरीश हल्के से हँसे।

दुरो ने ज़रा-सी निगाह उठा कर हरीश की ओर देखा। निमिष-भर के लिए

दोनों की आँखें चार हुई—हरीश की वह हँसी, जो मुस्कान का हल्का-सा मुखर रूप थी, दुरो को शुभ्र ज्योत्स्ना-सी अपने अस्तित्व पर छाती हुई दिखायी दी। उन की दृष्टि में उसे कुछ अजीब-सी स्निग्धता लगी। चुपचाप उस ने कॉफ़ी का प्याला उठा कर मुँह से लगा लिया।

"आप की बात क्या है," कॉफ़ी का एक घूँट भर कर उन्हों ने कहा, "मैं ख़ुद थक गया हूँ।"

"आप ज़रा भी तो आराम नहीं करते," दुरो गम्भीरता से बोली, "दिन-रात भाग-दौड़, वाद-विवाद और भाषणों में व्यस्त रहते हैं, थकेंगे नहीं ?"

"आप ठीक कहती हैं," हरीश ने कहा, "पर जिसे आराम कहते हैं, उससे मुझे आराम नहीं मिलता। काम में लगा रहता हूँ तो दिमाग़ भी शान्त रहता है और जब किसी काम में सफलता मिलती है तो उस शान्ति के साथ सुख का भी आभास मिलता है।"

"सुख का यह आभास बार-बार मिले," दुरो ने कहा, "इसके लिए स्वस्थ रहना आवश्यक है और स्वस्थ रहने के लिए थोड़ा आराम ज़रूरी है।"

"मैं क्या बताऊँ," हरीश जैसे अपने ही विचारों की रौ में बोले, "जब मैं कभी अकेला होता हूँ और सोचता हूँ कि हम कितने पिछड़े हुए हैं; तीन सौ बरस की ग़ुलामी ने हमें क्या-से-क्या बना दिया है, तो मुझे बड़ी तकलीफ़ होती है। सत्य, शिव और सुन्दर का हमारा आदर्श कहाँ गया ? झूठ, छल, प्रपंच, नीचता, बद-दयानती, रियाकारी, चापलूसी और रिश्वत—मानव की कोई भी ऐसी कुप्रवृत्ति और दुर्गुण नहीं जो हमारे जीवन का आवश्यक अंग न बन गया हो। कभी-कभी मन में साध उठती है," हरीश ने लम्बी साँस भरी, "कि मुझे अपार बल, जनता को समझने और समझ कर ठीक पथ पर चलाने की प्रखर बुद्धि मिल जाय तो मैं ऐसी क्रान्ति ला दूँ कि ग़ुलामी की बेड़ियाँ पलक झपकते कट कर गिर जायँ और आज जहाँ चन्द लोगों के स्वार्थ का राज्य है, वहाँ जनता का—जनता के हित का राज्य हो और जहाँ ग़ुलामी और स्वार्थ ने हमारे दुर्गुणों को उभार रखा है, वहाँ स्वतन्त्रता हमारे सद्गुणों को उजागर कर दे !"

दुरो चुपचाप हरीश की बातें सुनती रही थी। वे बहुत धीमे स्वर में बात कर रहे थे। लगता था जैसे वे दुरो से नहीं, अपने-आप से बात कर रहे हैं।

जैसे उनका चिंतन मुखर हो उठा है। लेकिन दुरो को उन के स्वर में—उस धीमे स्वर में—इमली की वही समान-रूप से जलने वाली आग की गर्मी मिली, जिसने उसे पहले दिन प्रभावित किया था। वह अपने सिर का दर्द भूल गयी। हरीश जब मौन हुए और उन्होंने ठंडी हो जाने वाली कॉफ़ी के दो बड़े घूँट भरे तो दुरो ने भी कॉफ़ी के एक घूँट से एम्पीरीन की दो टिकियाँ निगल लीं। हरीश ने शेष कॉफ़ी ख़त्म की और दोनों गोपालनगर की ओर चल दिये।

रास्ते में हरीश जी ने अपनी बात को जारी रखा :

"जनता में बलिदान के भाव की कमी नहीं दुरो जी," उन्होंने धीरे से कहा, "जब-जब महात्मा गांधी ने आज़ादी की लड़ाई का बिगुल बजाया है, लोगों ने अपना तन-मन-धन निछावर कर दिया है! फिर यह दशा क्यों है? क्यों हमारे यहाँ क्रांति नहीं होती? क्यों अब भी विदेशी सरकार हमारी छाती पर मूँग दल रही है, अपने अत्याचार के दाँत हमारे जिस्मों पर तेज़ कर रही है?...."

हरीश जी का स्वर किंचित ऊँचा हो गया था। वे एकदम चुप हो गये। फिर सहसा उन्होंने कहा, "मैं तो लेक्चर देने लगा। छोटा-मोटा नेता हूँ न मैं भी, लेक्चर देना मेरी आदत बनती जा रही है।" और वे हँसे।

दोनों कुछ क्षण चुपचाप चलते रहे। सहसा हरीश ने पूछा, "आप के सिर-दर्द का क्या हाल है?"

"अब तो बहुत अच्छा है।"

"कमरे में बहुत गर्मी थी, फिर इतने मज़दूर और बीड़ियों का धुआँ.... आपको अभ्यास भी तो नहीं।"

"धीरे-धीरे हो जायगा।"

"आप को आज कष्ट तो बहुत हुआ। लेकिन इन अनपढ़ लोगों में काम करके, इन-जैसा हो कर, इन का विश्वास जीत कर ही इन्हें ऊपर उठाया जा सकता है। अपने साँझ के स्कूल में आप को इन्हें धीरे-धीरे शिक्षित और सुसंस्कृत बनाना होगा।"

"आप जैसा आदेश देंगे, करने का प्रयास करूँगी।"

"आदेश की क्या बात है। हम सब साथी हैं।"

और उन्होंने बड़े स्नेह से दुरो के कंधे को थपथपा दिया।

"आप शुरू से ही कांग्रेस में काम करते हैं ?" सहसा दुरो ने पूछा ।

शुरू से ही समझिए । १९२१ से मैं इसमें हूँ—जब मैं छठी-सातवीं में पढ़ता था, तब से !" और धीरे-धीरे उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन की, अपने पिता की आकांक्षाओं और अपने मानसिक द्वन्द्वों की कहानी कह सुनायी ।

दुरो ने सड़क पर से अपना घर हरीश को दिखाया था और उसे वहाँ तक लाने में उन्हें जो कष्ट दिया था, उसके लिए क्षमा चाही थी । वे हँस दिये थे, "मैंने ख़ासा बोर किया आपको, धन्यवाद तो मुझे आप को देना चाहिए ।"

और वे पलट कर तेज़-तेज़ चले गये थे । दुरो सिर-दर्द के बावजूद बड़ी हल्की, पुलकाकुल घर आयी थी ।

"कुछ खाओगी या भूखी ही पड़ी रहोगी ?"

दुरो चौंक कर उठ बैठी । वहीं चारपाई पर लेटे-लेटे वह कल्पना में खो गयी थी ।

"तबीयत तो मेरी कुछ खाने को नहीं चाहती," उसने अन्यमनस्क भाव से कहा । उस समय सत्या जी का आ जाना उसे तनिक न रुचा था ।

"तो कोई हल्की चीज़ ले लो ।" सत्या जी ने कहा, "दूध-डबल रोटी या दूध-सोडा ! भूखी रहने से गर्मी बढ़ जायगी ।"

"जो आप उचित समझें, ले लूँगी ।" उसने टालने के भाव से कहा ।

सत्या जी चली गयीं और वह फिर अपनी सुखद कल्पनाओं में खो गयी ।

आठ

साँझ गहरी हो चली थी । आकाश पर बादल घिरे थे । उमस के कारण दम घुटा जा रहा था । पर जगमोहन का मन बड़ा प्रसन्न था । वह बोझ जो पंडित रघुनाथ के आगमन के बाद सत्या जी के प्रति उस के मन पर आ गया था, अपने-आप दूर हो चला था । सत्या जी ने जगमोहन को प्रोफ़ेसर कपूर के लड़के की ट्यूशन ले दी थी, बदले में प्रोफ़ेसर साहब ने वचन दिया था कि वे एम० ए० में दाखिल होने के सम्बन्ध में उस की पूरी सहायता करेंगे और उस की फ़ीस माफ़ करा देंगे । दोनों ऋषिनगर तक उसी भेंट के सम्बन्ध में बातें करते

चले आये थे। घर के नीचे पहुँच कर जगमोहन ने कहा, "आप कुछ क्षण आराम करेंगी या सीधी गोपालनगर जायेंगी ?"

सत्या जी ने आकाश की ओर देखा, "घटा तो बड़ी घिर आयी है, पर भाभी से मिले बिना नीचे से जाना भी मुझे पसन्द नहीं।"

"तो आप चलिए, मैं ज़रा भाग कर बर्फ़ ले आऊँ। सख़्त प्यास लग रही है। घड़े का पानी होगा उबला हुआ। आप के चाचा जी ने तो। (उस का संकेत प्रो० कपूर की ओर था) पानी को भी नहीं पूछा।"

और वह भागता हुआ होतूसिंह रोड की ओर चला गया। जब वह बर्फ़ ले कर लौटा तो ऊपर की सीढ़ी में चकित-सा खड़ा रह गया। सामने ताला पड़ा था और सत्या जी वहाँ नहीं थीं। वह फिर नीचे गया। बर्फ़ से उसके हाथ गलने लगे थे। उस ने बर्फ़ की डली सब से निचली सीढ़ी पर रखी और अन्दर जा कर मकान-मालकिन से पूछा कि उसकी भाभी कहाँ गयी है। मकान-मालकिन ने बताया कि वे सब 'निशात' में सिनेमा देखने गये हैं, साढ़े नौ-दस तक आ जायेंगे।

तब जगमोहन के होंटों पर आया, पूछे, 'अभी सत्या जी आयी थीं, उन को तो जाते आप ने नहीं देखा ?' तभी उसे ख़याल आया, वे ऊपर उस के कमरे में न चली गयी हों। यह ख़याल आते ही उस ने मकान-मालकिन से एक लोटा पानी और ख़ाली गिलास लिया, डेवढ़ी में आ कर उस ने सीढ़ी से बर्फ़ उठायी, उसे धो कर लोटे में डाला और ऊपर छत पर पहुँचा। उसका अनुमान ठीक था। सत्या जी उस के कमरे के बाहर दरवाज़े से लगी खड़ी उस की प्रतीक्षा कर रही थीं।

"भाभी तो सिनेमा देखने चली गयीं।" उस ने लोटा-गिलास उन्हें दे कर ताला खोलते हुए कहा, "और मैं नींबू लाया था कि ज़रा शिकंजी पियेंगे।"

सत्या जी उस के पीछे-पीछे अन्दर गयीं। जगमोहन ने ठंडे पानी का गिलास भरा, "आप लेंगी ?" उस ने पूछा और जब उन्होंने कहा, "नहीं आप लीजिए, आप को प्यास लगी है," तो उस ने वह एक ही साँस में ख़ाली कर दिया और लोटा और गिलास मेज़ पर रख कर चारपाई पर ढेर हो गया।

"मैं तो थक गया हूँ। क्षमा कीजिएगा, अभी उठता हूँ। आप कुर्सी लीजिए !"

नहीं आप लेटिए ।" सत्या जी ने कहा, और उन्होंने बढ़ कर गिलास पानी से भरा । जगमोहन ने क्षमा माँगते हुए उठने का उपक्रम किया, पर दायें हाथ से उसे रोकते हुए उन्होंने बायें से गिलास मुँह को लगा लिया ।

पानी पी कर वे क्षण-भर वहीं रुकी रही ।

"आप बैठिए ।" जगमोहन ने फिर उठने का उपक्रम किया ।

"नहीं मैं अब चलती हूँ ।" उन्होंने पूर्ववत् फ़र्श की ओर देखते हुए कहा, रूमाल में बँधी छोटी-सी पोटली निकाली और उसे खोल कर पैंतीस के नोट उसकी ओर बढ़ा दिये । "यह पैंतीस रुपये रखिए !" वे हँसीं, "मेरा पहला वेतन मुझे मिल गया है । कल ही पंडित दाताराम ने दिया । फ़ीस तो आप की माफ़ हो जायेगी, पर दाख़िला तो देना ही होगा ।"

"नहीं-नहीं आप रहने दीजिए," जगमोहन ने कहा, "मैं सुबह ही प्रोफ़ेसर ज्योतिस्वरूप के पास जाऊँगा और चाहे मुझे उन के दरवाज़े पर भूख हड़ताल ही क्यों न करनी पड़े, मैं दाख़िले के रुपये ले कर आऊँगा ।"

"वहाँ से भी मैं ला दूँगी । इतने से थोड़ी काम चलेगा ।"

"नहीं नहीं, मैं ले आऊँगा ।"

"आप रखिए ना, इन्हें उधार समझ लीजिए । जब भी आप के पास आयें, लौटा दीजिएगा ! मैं एक बार भी इनकार न करूँगी । क्या मुझे इतना भी अधिकार नहीं ।"

उधार के नाम पर जगमोहन के हाथ में उतनी कड़ाई न रही और उन्होंने उस की मुट्ठी खोल कर उस में रुपये दे दिये । "अच्छा तो मैं अब चलती हूँ," उन्होंने कहा, "कल प्रोफ़ेसर स्वरूप की ओर भी जाऊँगी । अपने लिए भी जाना है । हमारा रुपया तो जाने मिले या न मिले, पर आप का तो कुछ अवश्य ले आऊँगी ।"

"ठहरिए, मैं भी चलता हूँ आप के साथ गोपालनगर तक !" और वह उठा ।

"नहीं आप लेटिए । आप थके हैं ।"

लेकिन वह उठा । वे अभी दरवाज़े ही में थे कि वर्षा की पहली बौछार उन के मुँह पर पड़ी ।

"पानी तो आ गया ।" सत्या जी ने विवशता से कहा, और एक कदम पीछे

हटीं।

जगमोहन ने कोई उत्तर नहीं दिया। वर्षा की वह ठंडी बौछार उसे अपने गर्म चेहरे पर बड़ी भली लगी। वहीं खड़ा वह उमड़ी-घिरी घटा को निर्निमेष देखता रह गया। कहीं दूर डूबे सूरज की चमक अब भी उजेला-सा किये थी, घटा में कहीं-कहीं कुछ थिगलियाँ रंगीन हो उठी थीं और दृष्टि की सीमा तक जैसे गिरते पानी की चादर तन गयी थी।

"पीछे हटिए, भीग रहे हैं," उस का हाथ थाम कर उसे पीछे खींचते हुए सत्या जी ने कहा, "वर्षा की बौछार बहुत दूर तक अन्दर आ रही है। आप का सारा कमरा भीग जायेगा।"

वह तौलिए से मुँह पोंछ रहा था और सत्या जो अभी तक वहीं दरवाज़े के पास खड़ी थीं कि बत्ती एकदम बुझ गयी।

"इस मकान की यही दिक्कत है," जगमोहन ने झुँझला कर कहा, "जाने कब की फ़िटिंग करा रखी है। तीसरे दिन फ़्यूज़ (Fuse) उड़ जाता है।" बढ़ कर उस ने दो-एक बार बटन को ऊपर-नीचे दबाया। बत्ती नहीं जली। सत्या जी वहीं खड़ी थीं। "आप क्यों खड़ी हैं, बैठ जाइए!" उस की आवाज़ में हल्की-सी चिड़चिड़ाहट थी, "जाने वर्षा कब थमेगी!"

०

दूसरी सुबह दफ़्तर जाने से पहले भाई साहब उस के कमरे में आये। जगमोहन चौंका। उस के भाई कभी-कभार ही उस के कमरे में आते थे। वह नीचे मियानी में था तो वे दफ़्तर जाते अथवा वहाँ से आते वक्त एक नज़र झाँक भी लेते थे, पर जब से वह ऊपर चौबारे में आया था, वे एक बार भी ऊपर न आये थे।

जगमोहन ने उठ कर ईज़ी-चेयर बिछा दी। वे बैठे नहीं। वहीं मेज़ के कोने का तनिक सहारा ले कर वे रुके। "कल शाम सत्या यहाँ कब आयी थी?" सहसा उन्होंने पूछा।

"हम प्रोफ़ेसर कपूर के यहाँ गये थे। उन्होंने फ़ीस माफ़ कराने का वादा कर दिया है।" जगमोहन ने सीधा, संक्षिप्त उत्तर न दे कर कहा, "पुस्तकों का भी वे प्रबन्ध कर देंगे। केवल दाख़िले के रुपये चाहिएँ, सो आज प्रोफ़ेसर ज्योतिस्वरूप के जाऊँगा। प्रोफ़ेसर कपूर के यहाँ से लौटे तो पानी बरसने लगा।

इसलिए सत्या जी रुक गयी थीं।"

"पानी तो साढ़े आठ बजे थम गया था! वे तो दस बजे के करीब गयीं!"

"जी बातों में पता नहीं चला।"

"हूँ! बत्ती क्यों नहीं जलायी? तुम्हारी भाभी तुम्हें देखने आयी थी।"

"जी बिजली बुझ गयी थी। बाद में आ गयी होगी। फिर जलाने का ख़याल नहीं आया।"

"हूँ!" और फिर कुछ रुक कर उन्होंने कहा, "मैं यह पसन्द नहीं करता। यों तुम अब जवान हो, बालिग़ हो, अपने मालिक आप हो। तुम स्वयं समझ सकते हो।" वे कुछ और कहना चाहते थे, पर निमिष-भर रुक कर उन्होंने केवल इतना कहा...."मुझे दोबारा कहने की ज़रूरत न पड़े।" और वे जैसे आये थे चले गये।

०

दिन भर जगमोहन के जी पर बड़ा भारी बोझ रहा। भाभी को मुँह दिखाने की भी उसे हिम्मत नहीं हुई। वह कॉलेज भी बड़ी अनिच्छापूर्वक गया। बड़ी अन्यमनस्कता से उस ने फ़ार्म भरा और शुल्क की माफ़ी का आवेदन-पत्र दिया। जब वह लौटा तो बहुत देर हो गयी थी। दोपहर का खाना खाने के बाद भाभी शायद सो रही थी। वह अपना खाना उठा कर चुपचाप ऊपर ले गया था और वैसे ही अनमने भाव से चार कौर निगल कर बिस्तर पर जा लेटा था....बड़ी देर तक वह पिछली शाम की घटना के बारे में सोचता रहा।

तब मन-ही-मन उसने तय किया कि अब यदि सत्या जी आयीं तो वह उन्हें ठीक-ठीक स्थिति समझा देगा और सख़्ती से मना कर देगा कि वे उस के यहाँ न आयें....

किन्तु साँझ को जब वे आयीं तो जगमोहन न ठीक-ठीक अपनी मानसिक स्थिति समझा सका और न अपने स्वर में रुखाई ही ला सका। वे आयीं तो बड़ी ख़ुश-ख़ुश थीं। आते ही उन्होंने जगमोहन के सामने चालीस रुपये के नोट रख दिये और बताया कि वे सुबह ही प्रोफ़ेसर स्वरूप के यहाँ गयी थीं और यद्यपि उन्होंने बहुतेरा टाला, पर वे चालीस रुपये ले कर ही टलीं। "संस्कृति-समाज की महिला-मंत्री होना आज काम आया," उन्होंने हँस कर कहा, "नहीं आप के रुपये लाने में खासी कठिनाई होती।"

इतना कह कर जैसे वे थक कर बैठ गयीं और उन्होंने अपनी खादी की मोटी साड़ी से चेहरे का पसीना पोंछा।

जगमोहन वैसी सख्त बात उनसे कहे, उस से किसी तरह न बन पड़ा। कुछ क्षण दोनों चुप बने रहे। सत्या जी आँचल से हवा करती रहीं और जगमोहन सोचता रहा कि वह कैसे उन से वह सब कहे। अन्त में वह जो कुछ बोला, वह साँझ की घटना के सम्बन्ध में नहीं, बल्कि उमस के सम्बन्ध में था। "बड़ी उमस हो गयी है," उस ने कहा, "आप इतनी दूर से आयी हैं, आप को प्यास लग आयी होगी। मैं लस्सी बना लाऊँ।"

"नहीं-नहीं, आप बैठिए।"

लेकिन वहाँ बैठना उस के लिए कठिन हो रहा था। "नहीं-नहीं, मैं अभी लाता हूँ," कहते हुए उस ने कुर्ता पहना और नीचे भाग गया। होतूसिंह रोड से बर्फ़ और दूध लाते और लस्सी के गिलास बनाते हुए उसने तय कर लिया कि वह कैसे बात करेगा। वे उसके लिए इतना कष्ट मोल ले रही थीं, स्थूल रूप से उन्हें डाँट देना उस के बस के बाहर की बात थी। इसलिए उसने सोच लिया कि वह अपने बड़े भाई का नाम ले कर उन को वहाँ आने से मना कर देगा।

ऊपर आ कर लस्सी का गिलास देते हुए उसने कुछ यों बात शुरू की :

"आपने बड़ा कष्ट किया," स्वयं भी लस्सी का घूँट भरते हुए उस ने कहा, "पहले प्रोफ़ेसर कपूर के गयीं और अब प्रोफ़ेसर स्वरूप के। पर मैं सोचता हूँ कि एम० ए० करना बेकार है। फ़ार्म तो मैं भर आया हूँ, पर अब मेरी तनिक भी इच्छा एम० ए० करने की नहीं।"

सत्या जी ने इस का कोई उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप लस्सी पीती रहीं। अब जगमोहन क्या करे, उसकी समझ में न आया। दो-एक घूँट भर कर उस ने अपने पहले कथन की सफ़ाई दी—"मैं जितना सोचता हूँ, पाता हूँ कि मेरी यह आकांक्षा विफल-सी आकांक्षा है। मैंने एम० ए० कर भी लिया तो क्या तीर मार लूँगा!"

सत्या जी अब भी चुप रहीं। लेकिन जिस प्रकार अमावस के अँधेरे में मार्ग न सूझ पाने पर भी, बीच रास्ते में रुकने के बदले, मनुष्य चलता रहता है, उसी प्रकार जगमोहन अपनी उसी बात का तार पकड़े कहता गया, "अव्वल तो अपनी

इस साधन-हीनता से मुझे विश्वास नहीं कि मैं एम० ए० की यह नदी पार कर जाऊँगा। फिर पार कर भी गया तो थर्ड-क्लास एम० ए० करके क्लर्की करने की अपेक्षा एम० ए० किये बिना भी क्लर्की की जा सकती है।"

"क्लर्की क्यों ?" सहसा उन्होंने पूछा और अपने स्वभाव के विपरीत निगाहें तनिक ऊपर उठायीं, "आप तो प्रोफ़ेसर होना चाहते हैं न कॉलेज में !"

"चाहने भर से तो मैं लेक्चररशिप पा न जाऊँगा।" जगमोहन ने कहा।

"पर क्या ज़रूरी है कि एम० ए० करके नौकरी की ही जाय।" सत्या जी के स्वर में वह प्रोत्साहन-मिला उपदेश था, जो हठी बच्चे को समझाने वाली माँ के स्वर में होता है, "आप संसार भर का इतिहास पढ़ेंगे, आप का ज्ञान बढ़ेगा। अव्वल तो आप क्लर्की करें ही क्यों, और करें भी तो आप क्लर्की करते हुए भी शेष क्लर्कों से बेहतर होंगे।"

जगमोहन क्षण-भर चुप रहा, क्योंकि बात उन की ठीक थी, फिर बोला, "हाँ यह आप ठीक कहती हैं, पर मेरे पास साधन कहाँ ? कल प्रोफ़ेसर कपूर मुझ से नाराज़ हो जायँ तो मेरी पढ़ाई धरी-की-धरी रह जायगी।"

"उस की आप चिन्ता न कीजिए। प्रोफ़ेसर कपूर नाराज़ हो जायेंगे तो भी आप को कष्ट न होगा। फ़ीस आदि का प्रबन्ध हो जायेगा। जब तक मैं नौकरी करती हूँ, कोई चिन्ता नहीं।

अब जगमोहन को वह बात कहने का अवसर मिल गया, जिस के लिए वह इतना घुमा-फिरा रहा था। उसने बाहर की ओर देखते हुए कहा, "मैं नहीं चाहता आप मेरे लिए यों कष्ट करें। आप ने पहले ही बड़ा कष्ट किया है। भाई साहब को आप का यहाँ आना पसन्द नहीं।"

सत्या जी चुप रहीं।

और उसी तरह बिना उन से निगाह मिलाये, बाहर की ओर देखते हुए, जगमोहन ने भाई साहब की नाराज़गी का ज़िक्र किया। फिर अपनी ओर से जोड़ा, "वे ठीक ही कहते हैं। हम जिस समाज में रहते हैं, उस के नियमों का तो हमें पालन करना ही होगा। मैंने तो इसीलिए 'संस्कृति-समाज' से त्यागपत्र दे दिया था। आप यहाँ न आया कीजिए। मैं भी उधर न जाऊँगा।"

सत्या जी कुछ क्षण बैठी रहीं, फिर उठीं। "अच्छा मैं न आया करूँगी,"

उन्होंने कहा। फिर बोलीं, "देखिए, कॉलेज में ज़रूर दाखिल हो जाइएगा। एम० ए० करने में किसी तरह की हानि नहीं।" और फिर उन्होंने दोहराया, "मैं अब न आऊँगी।"

०

शाम का समय था, आकाश में हल्के-फुल्के, रीते-सफ़ेद बादल, बीच में नाममात्र की श्यामलता लिये, अनायास झूल रहे थे। देखते-देखते डूबते सूरज ने उन्हें अजीब-सी गुलाबी आभा प्रदान कर दी। सारे-का-सारा आकाश गोल, गुलाबी बादलों से जगमगा उठा। जगमोहन को चीनी के बारीक गुलाबी तारों के मीठे-मीठे गोलों की याद हो आयी, जो तब पंजाब के गली-बाज़ारों में आम बिकते थे। और उसे लगा, जैसे किसी अदृश्य खोंचा-फ़रोश ने लड़कों की शरारत से तंग आ कर अपने कनस्तर के सभी गोले आकाश के आँगन में फेंक दिये हैं। वे हवा से फूल गये हैं और बिखर गये हैं।

जगमोहन का मन कुछ अजीब-सी, बेनाम-सी उदासी से भर गया। सत्या जी चली गयी थीं और वह दरवाज़े में रुका रहा था। गोपालनगर तो दूर, वह उन्हें सीढ़ियों तक भी छोड़ने न गया था। रुका रहा था और अनमने-भाव से आकाश के शून्य में तकने लगा था। धीरे-धीरे अचानक गुलाबी हो जाने वाले आकाश ने उसके ध्यान को अपनी ओर खींच लिया था। जब यह गुलाबीपन, जैसे अपना रक्त खो देने पर, नीला पड़ गया तो जगमोहन की निगाहें भी उधर से हटीं। उस ने एक लम्बी साँस ली और छत पर टहलने लगा। टहलते-टहलते वह छत के जँगले के पास जा खड़ा हुआ।

सामने धोबियों ने वर्षा के कारण अन्दर रखे हुए कपड़े सुबह रस्सियों पर लटका दिये थे। दिन-भर तेज़ धूप रही थी। रात की वर्षा से मैदान में चारों ओर एकत्र पानी और कीचड़ से सड़न की कुछ अजीब घुटी-घुटी-सी गन्ध फैल रही थी। सामने इंजीनियर की लाल कोठी पर एक कौआ बेकार कायँ-कायँ कर रहा था। जगमोहन के मन की उदासी कुछ और गहरी हो गयी। अपने चौबारे में बैठना उस के लिए दूभर हो गया। उसने कपड़े पहने। चालीस रुपये के नोट उसी प्रकार पड़े थे। उन्हें देख कर जगमोहन के हृदय में एक तेज़-सी चुभन हुई, पर उसे दबा, उन्हें वैसे ही तकिये के नीचे रख कर उस ने दरवाज़ा बन्द किया,

भाभी से कहा कि वह घूमने जा रहा है, देर हो जाय तो खाना उस के कमरे में रख दे, और वह सीढ़ियाँ उतर गया।

०

"कहिए किधर घूम रहे हैं!"

किसी ने जगमोहन के कन्धे को थपथपाया। जगमोहन चौंका। वह पुरानी अनारकली से वसंत को ले कर नयी अनारकली की ओर आ रहा था। उसने मुड़ कर देखा—दुरो और हरीश कमर्शल बिल्डिंग्ज़ की ओर से आ रहे थे और हरीश का हाथ उस की पीठ पर था। वह सहसा गम्भीर हो गया।

"वन्दे जी!"

दुरो ने हाथ जोड़ कर दोनों को नमस्कार किया।

उत्तर में दोनों ने हाथ जोड़ दिये।

"कहिए आप फिर हमारे स्टडी-सरकल की मीटिंग में नहीं आये?" दुरो उलाहने के स्वर में बोली।

"अवकाश नहीं मिला," जगमोहन ने उत्तर दिया, "आप तो जानती हैं, पहले धर्म जी का काम था, फिर एक ट्यूशन ले ली और दाखिला जुटाने में लगा रहा।"

"अब तो कॉलेज बन्द हो गये हैं!"

"जी हाँ।"

"यहाँ हरीश जी ने ट्रांसपोर्ट-मज़दूरों की यूनियन संगठित की है, यहीं उसका दफ़्तर है," दुरो ने कमर्शल बिल्डिंग्ज़ के ऊपर की मंज़िल में एक कमरे की ओर संकेत किया, "यहीं मैं शाम को सात बजे से नौ बजे तक प्रौढ़ों की क्लास लेती हूँ। मैं तो इसी सिलसिले में आप की ओर आने वाली थी।"

"जो भी सेवा आप लेना चाहें, मैं हाज़िर हूँ।"

"और आप वसंत जी, आप भी फिर नहीं आये?

"जी मैं ने यहीं एक इंग्रेवर के यहाँ नौकरी कर ली है," वसंत ने कहा, "दिन-भर शहर की खाक छानता हूँ, आठ बजे दुकान बन्द होती है, इतना थक जाता हूँ कि खाना खाते ही पड़ जाता हूँ। ऐसे संघर्ष में लगा हूँ कि क्या कहूँ।"

"परसों तो इतवार है। हमारे स्टडी-सरकल की मीटिंग है। कुछ समय निकालिए। यह भी तो आप ही का संघर्ष है!"

"चलते चलिए!" हरीश जी ने कहा, "नौ बज गये हैं और आप को दूर जाना है।"

साथ-ही-साथ कदम उठाते हुए वसंत ने कहा, "देखिए, आने की पूरी कोशिश करूँगा।" फिर जगमोहन की ओर पलट कर बोला, "तो कल तुम आ रहे हो न, मुझे स्वयं अभी एक जगह जाना है। कल चलेंगे लारेंस तक। इसी वक्त आना।"

"बेहतर!"

और वसंत दोनों हाथ माथे पर जोड़, सिर को तीनों की ओर घुमाते हुए, एक ही भंगिमा से तीनों को नमस्कार करता हुआ चला गया।

मार्केट के चौरस्ते पर रुक कर हरीश जी ने जैसे अपने से कहा, "हमारी एक ज़रूरी मीटिंग है साढ़े नौ बजे, मेरा समय पर वहाँ पहुँचना बड़ा ज़रूरी है," और फिर मुड़ कर जगमोहन से बोले, "आप तो शायद सन्तनगर रहते हैं!"

"जी ऋषिनगर।"

"क्या दुरो जी को गोपालनगर पहुँचा कर उधर से घर को न चले जायेंगे!" फिर दुरो से बोले, "जगमोहन न मिलते तो मैं चलता गोपालनगर तक, आती बार ताँगा करना पड़ता और पैसे भी आप ही के लगते। मेरे पास आप जानती हैं, एक पैसा भी नहीं।" और वे हँसे।

"जी मैं पहुँचा दूँगा!" जगमोहन ने तत्परता से कहा। उस की इस तत्परता में हल्का-सा पुलक भी निहित था।

"कोई बाघ तो है नहीं रास्ते में, जो मुझे खा जायगा," दुरो हँसी, "आप काहे चिन्ता करते हैं?"

उस की बात का उत्तर दिये बिना हरीश ने जगमोहन के कन्धे को थपथपा दिया, और फिर दायाँ हाथ सिर से ज़रा-सा ऊपर उठा कर, "चीरियो!" कहते हुए वे चले गये।

दुरो क्षण-भर वहीं खड़ी हरीश जी को जाते देखती रही, फिर सहसा चौंक कर और एक लम्बी साँस को निकलने से दबाते हुए वह मुड़ी। तब, जैसे उसे

पहली बार जगमोहन की उपस्थिति का भान हुआ हो, उस ने कहा, "हरीश जी इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें चन्द मिनट का भी अवकाश नहीं मिलता," और वह हँसी और उसी हँसी में उस ने वह रुकी-घुटी साँस मुक्त कर दी, "आप काहे इतनी दूर जाने का कष्ट करेंगे !" उस ने चलते हुए जगमोहन से कहा, "मैं चली जाऊँगी ।"

जगमोहन ने उस के साथ कदम उठाते हुए कहा, "नहीं नहीं, इस में कष्ट की कौन बात है !"

"हरीश जी योंही फ़िक्र करते हैं," दुरो के स्वर में ज़रा-सी खीझ थी, "मैं बीसों बार इस से भी कुछ देर बाद अकेली गयी हूँ ।"

"देखिए दुरो जी, मुझे तो ख़ुशी होगी," भावना के आधिक्य से जगमोहन का गला लगभग घुटा जा रहा था । शब्द उस के मुँह से ठीक निकल न पा रहे थे । कुछ अजीब-सी हकलाहट उन में थी । अपनी सारी इच्छा-शक्ति को काम में ला कर उस ने वाक्य समाप्त किया, "हाँ, यदि आप मेरे साथ जाना न पसन्द करें तो दूसरी बात है ।" वह क्षण-भर रुका, फिर जैसे अन्तर का सारा ज़ोर लगा कर उस ने कहा, "पर अपने रास्ते चलता-चलता भी मैं उस तोप तक तो आप के साथ चल ही सकता हूँ ।"

उस के अन्तिम वाक्य में हकलाहट के साथ कुछ ऐसी आर्द्रता थी कि दुरो चौंकी । उस ने चलते-चलते मुड़ कर जगमोहन की ओर देखा । पश्चाताप-भरी-सी मुस्कान निमिष-भर को उसके होंटों पर फैल गयी । "नहीं-नहीं चलिए, आपका आभार होगा," उसने कहा, "मैंने तो यों ही हरीश जी की बात पर कहा था ।"

और वह फिर सिर झुकाये अपने ध्यान में मग्न चलने लगी । उसे हरीश जी पर क्रोध न था । उन की घोर व्यस्तता पर तो उस के मन में दया का भाव ही था । क्रोध था उसे यों ही....इस संयोग पर....यूनियन के दफ़्तर से नीचे उतरते ही जगमोहन के मिल जाने पर....मीटिंग के आरम्भ होने में भी अभी आध घण्टा था, जगमोहन न मिलता तो वे उसे गोपालनगर के इस सिरे तक अवश्य छोड़ने आते । ट्रांसपोर्ट-यूनियन की मीटिंग के बाद आज ही हरीश को कुछ समय मिला था । वे साँझ के स्कूल में आये थे और जब वे दोनों इकट्ठे उतरे थे तो दुरो का ख़याल था कि वे गोपालनगर तक उस के साथ जायेंगे....तभी

जगमोहन मिल गया और जैसे वह कोई बोझ हो, उसे जगमोहन पर लाद कर वे चले गये। और सहसा उस के हृदय में कहीं बहुत गहरे कुछ अजीब-सा, अनाम-सा सुलग उठा।

भंगियों की तोप कहीं पीछे रह गयी, गोल बाग़ कहीं पीछे रह गया, पुराना सेक्रेटेरिएट भी कहीं पीछे रह गया....दोनों चुपचाप चले जा रहे थे। न दुरो ने बात आरम्भ की, न जगमोहन ही को साहस हुआ। तेग़बहादुर रोड पर, चौक के इधर ही, सत्या जी का घर दिखायी दे जाने से सहसा जगमोहन रुक गया, "दुरो जी, मुझे क्षमा करना"....उसने कहा, "आप का घर आ गया है। मैं चलता हूँ....मुझे पता होता, आपको मेरा आना इतना खलेगा तो वहीं मार्केट से अलग हो जाता।"

उसके स्वर में कुछ ऐसी हकलाहट, कुछ ऐसी आर्द्रता थी कि दुरो ने चौंक कर फिर उस की ओर देखा। हरीश के ध्यान में वह जाने कहाँ-से-कहाँ पहुँच गयी थी। जगमोहन का गीला-गीला स्वर उसे जैसे धरती पर ले आया। वह रुकी। मुड़ी। जगमोहन सिर झुकाये खड़ा था। आवेग से वह हल्का-सा काँप रहा था। उस के नथुने फड़क रहे थे। दुरो के मन में कुछ अजीब-सी ममता, नदी के ज्वार-सी, सहसा उमड़ आयी। बाज़ार न होता तो शायद वह उस बच्चे को प्यार से थपथपा देती।

"अच्छा नमस्ते जी!"

जगमोहन के सूख रहे-से कण्ठ से बड़े ही भीगे-से शब्द निकले और वह मुड़ा। दुरो ने उसे बाज़ू से थाम लिया।

जगमोहन सिर झुकाये चुप खड़ा रहा। दिल उस का बेतरह धड़कने लगा।

"मुझे माफ़ करना भाई," दुरो ने उस की बाँह पर हाथ का ज़ोर ज़रा बढ़ाते हुए कहा, "मुझे तुम्हारा साथ आना नहीं खला। तुम्हारा तो आभार मुझ पर है। हरीश जी का न आना मुझे ज़रूर खला। पर मैं नयी-नयी इस क्षेत्र में आयी हूँ। देश और जनता की सेवा ममत्व और स्वत्व का जो बलिदान चाहती है, मैं अभी उसके योग्य नहीं हुई। अपनी छोटी-सी हस्ती और उस की छोटी-छोटी इच्छाएँ मुझे बड़े महत्व की लगती हैं। उन के पूरी न होने पर दुख होता है। पर जिन्होंने अपने ममत्व, स्वत्व और अहं—सब के ऊपर जनता और देश

को रखा है, उन के सम्मुख इन भावनाओं का उतना मूल्य नहीं। मुझे गोपाल-नगर तक पहुँचाने का भार आप पर छोड़ कर उनके चले जाने से मुझे क्षोभ हुआ। न जाने मुझे क्या हो गया। मैं अपने-आप में न रही। मैं शर्मिन्दा हूँ। हरीश जी से भी, आप से भी।" और उस ने जगमोहन के बाजू को तनिक-सा हिलाया, "अब तो नाराज़ नहीं!"

"नहीं! इस में शर्मिन्दा होने की क्या बात है?" जगमोहन का गीला स्वर न जाने कैसे संयत हो गया। उस की हकलाहट न जाने कहाँ चली गयी। सहज भाव से उस ने कहा, "हम सभी नये हैं। हमें अभी बहुत-कुछ सीखना है। मुझे शिकायत न करनी चाहिए थी।"

"नहीं-नहीं आप की शिकायत बजा थी।" दुरो ने जगमोहन के कन्धे को थपथपाया, "तो परसों स्टडी-सरकल में आ रहे हैं न आप? सत्या बहन कहती थीं, आप ने कोई बड़ी सुन्दर कविता लिखी है। उसे ज़रूर लाइएगा।"

"ज़रूर लाऊँगा!"

०

सफ़ेद-सफ़ेद बादलों में चाँद तेज़-तेज़ भाग रहा था। जगमोहन भी तेज-तेज चलने लगा। कल्पना के बादल उस के मस्तिष्क पर छा गये, सफ़ेद-सफ़ेद, हल्के-हल्के, पुलक और उल्लास से भरे—और वह अनायास उन में बहने लगा।

"तुमने बड़ी देर कर दी, मैं तुम्हारी राह देख रहा हूँ।" उस के घर पहुँचते ही बड़े भाई ने कहा और उन्होंने अपनी पत्नी को आवाज़ दी कि खाना परोसे।

उस के भाई खाने पर कभी ही उस की प्रतीक्षा करते थे। किसी दूसरे दिन वे ऐसा कहते तो वह उत्तर देता, 'आप ने नाहक तकलीफ़ की, आप खा लेते।' पर वह अपने में इतना मग्न था कि उस ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। छत के नल पर जा कर हाथ धो आया और भाभी ने खाना परसा तो चुपचाप खाने बैठ गया....

उस के भाई सत्या जी की प्रशंसा कर रहे थे। उन्होंने दस हज़ार के केस उन्हें सप्ताह-भर के अन्दर दिलवाये थे और जब उन्होंने उन्हें कमीशन का आधा देना चाहा तो सत्या जी ने इनकार कर दिया था। भाई साहब उनकी शालीनता,

चतुराई, कर्मठता और सौहार्द्र की प्रशंसा कर रहे थे। "जब मैंने बहुत ज़ोर दिया," भाई साहब कह रहे थे, "तो कहने लगी कि मेरी ओर से भाभी के लिए इन रुपयों का नेकलेस बनवा दीजिएगा।"

"बच्चे तो उस से ऐसे हिल गये हैं कि 'आंटी' 'आंटी' कहते नहीं थकते," भाभी ने रद्दा जमाया, "और वह भी तो कुछ-न-कुछ उन्न के लिए लाती रहती है।"

"वह यहाँ आती है?" सहसा जगमोहन ने पूछा, "मैंने तो मना कर दिया था कि वह यहाँ कभी न आये!"

भाई साहब खाना खा चुके थे। हाथ धोते हुए उन्होंने कहा, "उस दिन मैंने वह सब भ्रम में कहा था। वह ऐसी लड़की नहीं लगती। उस की शालीनता का तो मैं क़ायल हो गया हूँ। इतनी देर बैठी रही, एक बार भी तो नज़र ऊँची नहीं की।"

और वे सोने चले गये।

जगमोहन के हाथ धुलाते हुए भाभी ने कहा, "अँधेरे में बैठने का उन्होंने बुरा माना होगा, नहीं सत्या को तो वे बहुत मानते हैं। तुम्हें पसन्द हो तो मैं करूँ बात उसकी चाची से?"

जगमोहन ने इस का कोई उत्तर नहीं दिया। उस की दृष्टि सहसा भाभी की साड़ी पर गयी, "यह बड़ी अच्छी साड़ी पहनी है। कब लायीं?"

"सत्या के साथ बाजार गयी थी—योहीं घूमने—वहाँ खादी-भण्डार में चले गये। मुझे इस का रंग पसन्द आ गया। सत्या का वहाँ हिसाब है। बरबस उस ने मुझे ले दी।"

"बहुत बढ़िया रंग है।" जगमोहन ने केवल इतना कहा और ऊपर चला गया।

नौ

जगमोहन जब स्टडी-सरकल में पहुँचा तो मीटिंग जारी थी। एक साहब, जो वेश-भूषा और बैठने के ढंग से प्रोफ़ेसर लगते थे, एक लेख पढ़ रहे थे। जाने लेख अभी आरम्भ हुआ था अथवा ख़त्म होने को था—क्योंकि न कोई जम्हाई ले रहा

था, न पीछे को लेटा था, सब आगे को झुके बैठे थे और उनकी निगाहों के भाले पढ़ने वाले की ओर अविराम तने हुए थे।

जगमोहन ने एक दृष्टि उपस्थित मण्डली पर डाली। अधिकांश के बाल बिखरे और कपड़े अस्त-व्यस्त थे। एक कोने में महामना मालवीय बने बैठे पंडित दाताराम से उस की आँखें चार हुईं। सिर तनिक झुका कर उस ने उन्हें नमस्कार किया। 'ये इस मीटिंग में क्या करने आये हैं,' उस ने मन-ही-मन सोचा, पर उस ने देखा कि उन के साथ ही, फ़र्श पर दृष्टि गड़ाये, सत्या जी बैठी हैं। तभी उन के साथ बैठी दुरो ने तनिक आँख उठा कर उस की ओर देखा। जगमोहन ने नमस्कार किया। सिर के इंगित ही से उस के नमस्कार का उत्तर दे कर, वह फिर लेख सुनने में तन्मय हो गयी।

लेख समाप्ति पर ही था, क्योंकि जगमोहन के पहुँचने के कुछ ही देर बाद वह ख़त्म हो गया। विषय उस का क्या था—जगमोहन कुछ भी न समझ पाया। अन्तिम वाक्य भी उस ने ध्यान से नहीं सुने। दुरो ने उस से कविता पढ़ने के लिए कहा था, इसलिए वह हरीश जी के नाम एक चिट लिखने में निमग्न रहा कि उस ने एक नयी कविता लिखी है और वह पढ़ना चाहता है। उस ने केवल लेख का अन्तिम वाक्य ही सुना—"ऐसे समाज में व्यक्ति का ह्रास नहीं, चरम विकास होगा।"

कैसे समाज में? जगमोहन ने यह जानने का प्रयास नहीं किया। उस ने चिट अपने आगे बैठे युवक को दी कि वह हरीश जी को दे दे।

हरीश जी ने उस चिट को पढ़ा। फिर उस को दरी पर रखते हुए बोले, "इस लेख पर कुछ बात-चीत होनी चाहिए। किसी को कुछ कहना हो तो कहे।"

"यह 'किसलय' जी कुछ कहना चाहते हैं।"

किसलय जी!—जगमोहन ने झट मुड़ कर देखा—उस के दायीं ओर तनिक पीछे, कवि 'किसलय' बैठे थे। 'अच्छा ये भी पहुँच गये!' उस ने मन में कहा, और साथ बैठे हुए युवक से लेख पढ़ने वाले का नाम पूछा।

"प्रोफ़ेसर खन्ना, अभी एम० ए० में फ़र्स्ट-क्लास-फ़र्स्ट आये हैं और दयाल-सिंह कॉलेज में लेक्चरर नियुक्त हुए हैं।" साथी ने उत्तर दिया।

"यदि आप क्षमा करें तो मैं दो शब्द कहूँ।" किसलय जी ने विनम्रता से

कहा ।

"हाँ हाँ, कहिए !" हरीश जी और प्रोफ़ेसर खन्ना एक साथ बोले ।

"मेरी एक शंका है ।" किसलय जी ने कहना शुरू किया, "जिस समाज अथवा शासन-पद्धति में लेखक अथवा कवि पर यह अंकुश रखा जाय कि वह यह लिखे और यह न लिखे, वहाँ उस के व्यक्ति का चरम-विकास कैसे हो सकता है ? कवि की प्ररणा तो (लेखक कवि में शामिल हैं) मुँह-ज़ोर घोड़ा है, कब वह अनमना-सा अस्तबल के एक कोने में खड़ा रहता है; कब दुलकी चलता है, कब चारों पैर उठा कर सरपट भागता है; कब यौवन की मस्ती में उन्मत्त हो नाच उठता है और कब झुँझला कर अगले दोनों पाँव उठा कर सीधा खड़ा हो, जाता है—इसका कोई ठिकाना नहीं ! अंकुश से आप उसे जुए में तो जोत सकते हैं, पर उस के व्यक्तित्व का चरम-विकास नहीं कर सकते ।"

"घोड़े और कवि के दिमाग़ में अंतर है, यह तो आप मानेंगे ।" प्रोफ़ेसर खन्ना ने कहा, "केवल तुनक कर अलिफ़ खड़े हो जाने वाले, अथवा मार्ग-कुमार्ग देखे बिना बे-लगाम चलने वाले घोड़े का अपेक्षा ताँगे में जुत कर, सवारियों के साथ धीर-गति से चलते हुए मीलों की मंज़िल मारने वाले घोड़े की उपादेयता से तो आप इनकार न करेंगे ।"

"मैं उपादेयता से इनकार नहीं करता," किसलय जी ने कहा, "प्रश्न दूसरा है । यहाँ व्यक्ति के चरम विकास का प्रश्न है । यदि अपनी स्वतन्त्र शक्ति में मत्त नाच उठने वाला घोड़ा जुए में जुत कर अनमनी गति से...."

"अनमनी गति से क्यों," दुरो ने कहा, "यदि घोड़ा सधा और पला है और भूखा नहीं है तो उस की गति द्रुत और उतनी ही मत्त हो सकती है । ताँगों में जुते, भरे-पुरे घोड़े भी तो आप ने देखे होंगे, जो हवा से बातें करते हैं । फिर रण में बरसती गोलियों में निर्भीक चले जाने वाले घोड़ों की बात भी आप ने सुनी होगी ।"

"मुझे अपनी बात कह लेने दीजिए देवी जी !" किसलय जी ने विनम्रता से कहा, "यदि अपनी स्वतन्त्र शक्ति में मत्त नाच उठने वाला घोड़ा जुए में जुत-कर अनमनी गति से मीलों चलता रहे तो यह उस के व्यक्तित्व का चरम विकास कहाँ हुआ ? उपादेयता, माना, उस की बढ़ गयी । यद्यपि यहाँ भी अपना-अपना

दृष्टिकोण है। मुझे जुए में जुते हुए धीर गति से चले जा रहे असील घोड़े की अपेक्षा अपनी शक्तिमत्ता की समस्त भव्य दर्शनीयता के साथ, पिछली दोनों टाँगों पर अलिफ़ खड़े हो जाने वाले घोड़े अधिक रुचते हैं। धीर गति से चले जाने वाले घोड़ों को कोई नहीं देखता। पर जब कोई मदमत्त तुरंग अपनी उमंग में सरपट भाग उठता है, अथवा घेरे बनाता हुआ नाचता है, अथवा अपने पूरे व्यक्तित्व की दर्शनीयता के साथ दोनों पिछली टाँगों पर अलिफ़ खड़ा हो जाता है तो लोग-बाग अपना काम छोड़ कर उसे देखने आ जाते हैं। मैं तो जैसे मन्त्र-मुग्ध रह जाता हूँ।"

"आप उस पर सवार जो नहीं होते, इसलिए !" किसी ने पीछे से कहा और सारी मण्डली अनायास अट्टहास कर उठी।

उस हँसी की ओर ध्यान दिये बिना किसलय जी ने गम्भीरता से कहा, "यही दशा कवि की है। अनुशासन के अंकुश के नीचे उस की उपादेयता चाहे कुछ बढ़ जाय (यद्यपि इस में मुझे सन्देह है) पर उस का चरम-विकास न होगा। जग के संघर्ष से भाग कर अपने उदास चरणों में अथवा उस में पूरी शक्ति के साथ रत हो कर, जग की लम्पटता, संकीर्णता, छिछलेपन, झूठ, फ़रेब, चाटुकारी, अवसरवादिता, उत्कोच-प्रियता से झुँझला कर जब वह अपनी प्रतिभा के बल अलिफ़ खड़ा हो जाता है तो उस की क्रुद्ध साँसों से जो उद्‌गार निकलते हैं, उन की तुलना में सधे हुए घोड़े की भाँति अनुशासन में जुते, सोच-सोच कर लिखने वाले कवि की कृति क्या ठहरेगी !"

वे चुप हो गये। प्रोफ़ेसर खन्ना के होंटों पर विद्रूप-भरी मुस्कान फैल गयी। "मैं केवल यही पूछना चाहता हूँ," उन्होंने कहा, "कि शत-प्रतिशत अनुशासन-हीनता सम्भव है भी कहीं ? प्रतिभा मस्तिष्क की तनया है। गधा कविता नहीं करता, क्योंकि दिमाग़ की उस के यहाँ कमी है। जब मस्तिष्क अति भावप्रवण और अनुभूतिशील हो तो सोच-विचार उस का पहला गुण होगा और सोच-विचार लगाम अथवा हंटर के अतिरिक्त और कुछ नहीं। महान कलाकार सदैव अपनी प्रतिभा पर अपनी बुद्धि का अंकुश रखते रहे। सर्वथा अनुशासनहीन कविता (अथवा कहानी) ऊबड़-खाबड़ हो कर रह जायगी। कुछ पंक्तियाँ सुन्दर और कुछ एकदम निरर्थक होंगी। चेख़व और तॉल्स्तॉय के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे

अपनी प्रतिभा पर पूर्ण नियन्त्रण रखते थे। अपने अध्ययन को बढ़ाते और कृतियों को सदा सजाते-सँवारते रहते थे। एक आलोचक ने बड़े सुन्दर ढंग से कहा है कि अपनी बर्फ़-गाड़ियों के वे स्वयं चालक थे। दूसरी बात," उन्होंने फिर तनिक दम ले कर कहा, "लेखक हो अथवा कवि, वह सामाजिक प्राणी है। वह जिस समाज में रहता है, उस का अनुशासन मानता है। उस समाज के जीर्ण होने पर वह उसे तोड़ने को विवश होता है तो वह नये समाज के लिए अनुशासन के नियम बनाता है। 'बेवक्त की शहनाई' अथवा 'असमय की रागिनी' नाम के मुहावरे उसी अनुशासन के प्रमाण हैं। बेवक्त की शहनाई कितनी भी सुर और लय से क्यों न बजायी जाय, अच्छी नहीं लगती। प्रश्न उसकी कला का नहीं, उपादेयता का है।"

"कला उपादेय होनी चाहिए या नहीं, इस पर दो मत हो सकते हैं।" किसलय जी ने कहा।

अब हरीश जी बोले :

"कला कला के लिए है अथवा जीवन और उस के विकास के लिए, इस विषय पर पिछली किसी बैठक में विस्तार से बात-चीत हो चुकी है। अब उसे नये सिरे से उठाना समय बर्बाद करना है। अब श्री जगमोहन अपनी कविता सुनायेंगे।"

जगमोहन चौंका। यह बहस उसे इतनी दिलचस्प लग रही थी और वह इस में इस हद तक खो गया था कि अपनी कविता सुनाने की बात वह एकदम भूल गया था। इस वाद-विवाद के बाद उसे अपनी कविता भी रूमानी लगी। उस ने एकदम लाल होते हुए कहा, "इस बहस के बाद मेरा कविता पढ़ना व्यर्थ है।"

"आख़िर क्यों?"

"वह भी कुछ रूमानी-सी है, अब मैं यह बात समझ गया हूँ।"

"किसी कविता का रूमानी होना कोई ऐसी बुरी बात नहीं, यदि उसके पाँव धरती पर टिके रहें।" हरीश ने मुस्करा कर कहा, "आप पढ़िए तो, कम-से-कम औरों को मालूम हो जायगा कि क्यों वह अब आप को पसन्द नहीं।"

जगमोहन ने कापी खोली। यद्यपि उस बहस के बाद उस का उत्साह किंचित

मन्द हो गया था....तो भी उस ने बड़ी अदा से कविता पढ़नी शुरू की।

किसलय जी ने कई बार बीच में कविता की प्रशंसा की और जब जगमोहन ने कविता समाप्त की तो अनायास ही सब करतल-ध्वनि कर उठे।

जगमोहन ने कापी बन्द की तो प्रोत्साहन से उस का मुँह चमक उठा था। प्रोफ़ेसर खन्ना और अन्य एक-दो चुप रहे। हरीश केवल मुस्कराते रहे। जब तालियाँ बज चुकीं तो उन्होंने कहा :

"कविता, जहाँ तक कला और भावों की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है, सुन्दर है। इस के मुक्त-छन्द में प्रवाह है और यह बोधगम्य भी है। पर यह आप ने ठीक ही कहा था कि यह रूमानी है। आजकल के प्यार का खाका आप ने सुन्दर खींचा है, पर प्यार ऐसा क्यों है, उस की ओर संकेत नहीं किया। अभी हाल ही में एक उर्दू कवि ने बड़ी ही सुन्दर कविता लिखी है।" और उन्होंने कोने में बैठे एक युवक की ओर संकेत किया, "क्यों अहसान, सुनाओ ज़रा वह नज़्म—और भी दुख है ज़माने में मुहब्बत के सिवा!"

और अहसान ने अपनी जगह बैठे-बैठे अपने रसीले, दर्द-भरे स्वर में कविता पढ़नी शुरू की।

अहसान कविता पढ़ते गये और सुनने वाले झूमते गये। जब कविता खत्म हुई तो जगमोहन को लगा, जैसे उस कविता का जादू उस धूल-भरे कमरे के कण-कण में बस गया है।

"अब आप समझ गये कि क्यों वह पहली-सी मुहब्बत नहीं रही।" हरीश जी बोले, "आज हमारा जीवन उतना सरल नहीं, हमारी समस्याएँ सरल नहीं, इसलिए प्यार में भी पेचीदगी आ गयी है—**लौट जाती है उधर को भी नज़र क्या कीजे**—इसलिए पहला-सा प्यार सम्भव नहीं। कवि जागरूक है और उस की दृष्टि उन दृश्यों की ओर जाती है। वह अपनी भावनाओं को व्यक्त कर देता है, अपनी कठिनाई बता देता है। दूसरे नहीं बता सकते, पर उसी तरह महसूस करते हैं। और प्रेम में वह पुराने वक्तों की अनायासता नहीं रही।"

"फिर जिस स्वयंवर और कफ़न बाँध कर प्रिय को लाने की बात आप ने कविता में लिखी है," खन्ना बोले, "वह भी मानव के चरम-विकास के दिनों की बात नहीं। यह उन दिनों की बात है, जब नारी केवल अबला थी। अधिकांश

स्वयंवरों में एक ओर बल और शौर्य और दूसरी ओर सौन्दर्य ही की वांछा थी। आज ऐसा नहीं, जीवन उतना सरल नहीं। युवक-युवती के प्रेम के साथ सौ दूसरी समस्याएँ हैं। इसीलिए झिझक, संकोच और गणना है।"

बात ख़त्म कर हरीश जी ने घड़ी देखी। साढ़े सौ बजने को आये थे। "अच्छा भई, अब बस! काफ़ी देर हो गयी है। हमें तो कल ट्रांसपोर्ट-यूनियन की बड़ी ज़रूरी मीटिंग करके मालिकों के सामने पेश की जाने वाली माँगों का फ़ैसला करना है, घर-घर जा कर मज़दूरों को सूचना देनी होगी। अब ख़त्म करें!"

०

लोग उठ खड़े हुए।

कुछ युवक छात्रों ने हरीश और प्रोफ़ेसर खन्ना को घेर लिया। दुरो ने जगमोहन की कविता को सराहा, "सत्या बहन योंही प्रशंसा न करती थीं। बड़ी अच्छी कविता लिखी है आप ने।"

जगमोहन कुछ उत्तर देने जा रहा था कि 'कहिए मोहन जी आप के तो फिर दर्शन ही नहीं हुए' कहते और अपने कृत्रिम दाँत दिखाते हुए पंडित दाताराम उसके निकट आ गये।

"जी मैं इधर काम में व्यस्त रहा!" जगमोहन ने हाथ जोड़ कर उन्हें नमस्कार करते हुए कहा।

"मैं तो आज दोपहर आप के घर भी गया था, पर पता चला कि आप कुछ ही देर पहले निकल गये।"

"मेरे घर?" जगमोहन ने आश्चर्य से कहा।

"जी!" पंडित जी हँसे। पसीने के मारे उन का बुरा हाल था। पगड़ी उतार कर उन्होंने एक हाथ में ली और दूसरा अपने गंजे सिर पर फेरते और दुपट्टे से हवा करते हुए बोले, "घर में आप नहीं मिले तो सित्तो ने कहा (न जाने कब से पंडित जी सत्या जी को सित्तो कहने लगे थे) कि शायद आप यहाँ आयें, सो हम इधर आ गये। आज का इतवार तो आप की भेंट हो गया!"

जगमोहन और भी चकित हुआ। "कहिए क्या आदेश है?" उस ने कहा।

पंडित जी उसे साथ लिये दरवाज़े के बाहर आये। पगड़ी को उन्होंने सिर

पर रखा। "हम अपने स्कूल में एक भाषणमाला आरम्भ करने जा रहे हैं," उन्होंने कहा, "आप यदि लड़कियों को निबन्ध लिखने के बारे में कुछ बतायें तो बड़ा आभार हो। काव्य पर श्री चातक और नाटक पर श्री नीरव बोलेंगे।"

"मुझे तो भाषण देने का अभ्यास ही नहीं।"

"अजी भाषण कैसा, प्रभाकर में चार लड़कियाँ हैं। उन्हें ज़रा निबन्ध लिखना बता दीजिएगा। नया-नया स्कूल खुला है। अधिक तो हम आप की सेवा नहीं कर सकते, पर दस रुपये हम पत्रम्-पुष्पम् आप की भेंट कर देंगे।"

"जी मैं आ जाऊँगा।"

"देखा!" पंडित जी ने पीछे खड़ी सत्या जी की ओर लक्ष्य कर कहा, "मैं न कहता था कि मोहन जी मेरी बात नहीं टाल सकते। मेरा इन पर बड़ा हक है!" और फिर जगमोहन की ओर देख कर बोले, "सत्या कहती थी कि जगमोहन जी नहीं आयेंगे।"

और वे हँसे और फिर एक बार उन्होंने दायें हाथ में पगड़ी ले कर बाँया अपने गंजे सिर पर फेरा। "तो कल आप पधारिए!" उन्होंने कहा, "सित्तो विद्यालय आते समय आप को ताँगे में लेती आयेगी।"

"जी नहीं, वह सब कष्ट करने की ज़रूरत नहीं। मैं पहुँच जाऊँगा।"

"नहीं नहीं भाई, ताँगा आप को घर से ले जायेगा और घर छोड़ आयेगा," पंडित जी ने जगमोहन की पीठ थपथपाते हुए कहा, "हमें आप को एक बार ही नहीं बुलाना, फिर भी कष्ट देना है।"

०

सत्या जी के मस्तिष्क में हलचल मची हुई थी। पिछले कई दिनों की घटनाएँ अपने विभिन्न चित्रों की भीड़ लिये वहाँ चक्कर लगा रही थीं—एक के बाद एक चित्र आता, अपनी बात कहता और चला जाता—पर प्रकट उन की आकृति पर उस हलचल का कोई बिम्ब न था। चुपचाप, निगाहें सड़क में गाड़े, वे तेज़-तेज़ ऋषिनगर की ओर चली जा रही थीं।

०

जगमोहन को एक बार ही नहीं, कई बार 'देवचन्द-विद्यालय' में भाषण देने जाना पड़ा था। 'प्रभाकर' की छात्राओं ही को नहीं, 'भूषण' और 'रत्न' की छात्राओं

को भी निबन्ध लिखने का ढंग बताना पड़ा था। उन की कापियाँ ठीक करनी पड़ी थीं। सत्या जी स्कूल जाते हुए ताँगे में उसे ले जाती थीं। वहाँ से चलते समय उसे पंडित दाताराम से दस रुपये और ताँगे के पैसे दिलवा देती थीं। एक-डेढ़ सप्ताह में चालीस रुपये उन्होंने उसे दिलवा दिये थे।

चलते-चलते सत्या जी के होंटों पर हल्की-सी मुस्कान दौड़ गयी। जगमोहन को क्या मालूम था कि वे सब रुपये उन्हीं की जेब से गये थे। सत्या जी ने अपना दो महीने का वेतन विद्यालय को दान दे दिया था कि वह प्रमुख लेखकों और कवियों के भाषण करा सके और उन्होंने बड़ी सफ़ाई से उस रुपये का अधिकांश जगमोहन ही को दिलवा दिया था। जगमोहन के मन में उन के प्रति जो हिम-ऐसी, ठण्डे लोहे-सरीखी कठोरता आ गयी थी, वह आख़िर पिघलती हुई-सी दीख रही थी। उसके भाई-भाभी सत्या जी से प्रसन्न थे। उस की भाभी ने तो हँसते-हँसते संकेत भी किया था कि यदि वे उन के घर आ जायँ तो ऐसी सहृदय देवरानी को पा कर वे कृत्य-कृत्य हो जायेंगी। हँसी-हँसी में उस ने यह भी बता दिया था कि उस रात देर तक, बिना बत्ती जलाये, ऊपर कमरे में उन दोनों के बैठे रहने से भाई साहब कुछ अप्रसन्न हुए थे और उन्होंने जगमोहन को डाँटा भी था, पर जब उन्हें ठीक स्थिति का ज्ञान हुआ (भाभी ही के बताने पर, यह कहना वह नहीं भूली) तो उन्हें अफ़सोस हुआ था। भाभी ने सत्या जी को बताया था कि जगमोहन शायद भाई साहब से डर गया है, वे भाभी के पास आती रहें, अपने-आप जगमोहन को पता चल जायगा और उस का बर्ताव बदल जायगा।

लेकिन दोनों के बीच का अंतर बिलकुल दूर हो गया था या नहीं, सत्या जी कुछ न जानती थीं। भाई साहब दौरे पर गये हुए थे और भाभी अपने बच्चों के साथ मैके चली गयी थी तो भी सत्या जी जगमोहन के यहाँ जा रही थीं। ज्यों-ज्यों जगमोहन का मकान निकट आता जा रहा था, उन के हृदय की गति तेज़ हो रही थी। रात उन के पिता ने उन्हें पास बैठा कर बहुत देर तक दुनिया के ऊँच-नीच की बात समझायी थी। 'संस्कृति-समाज' से जगमोहन के त्यागपत्र देने के बाद नये मन्त्री के नाते शुक्ला जी उनके यहाँ बराबर आने लगे थे। उन्होंने उन की ओर जगमोहन की बात को ले कर (सत्या जी की भरपूर प्रशंसा करते हुए,

केवल मित्र-भाव से) दो-चार बातें कही थीं....कि लोग बहुत-सी ऐसी बातें करते हैं, जिन्हें सुनने में शुक्ला जी को हार्दिक दुख होता है और कहा था कि यदि सत्या जी का मन वहीं हो तो वहीं शादी कर दी जाय, लेकिन इस तरह लगातार मिलने-जुलने में बदनामी होती है। "अपनी कांग्रेस में काम करता हो," शुक्ला जी ने कहा था, "तो लड़का चौबीस घण्टे आँख के सामने रहता है। लेकिन जगमोहन का तो कुछ पता ही नहीं। कवि है, लेकिन कवियों का कोई भरोसा नहीं!" और उन्होंने अपने दो-एक परिचत युवकों का पता दिया था, जो देश-प्रेमी थे, जाने-पहचाने थे और सत्या जी के लिए पूर्ण-रूप से उपयुक्त थे।

शुक्ला जी के अतिरिक्त पंडित रघुनाथ उन के पिता को तंग किये हुए थे। वे कुटुम्ब के पुराने हितैषी थे और इस नाते उन्होंने इस अपवाद का उल्लेख करते हुए सत्या जी के पिता पर ज़ोर दिया था कि उनकी तत्काल शादी कर दें। सत्या जी के पिता ये सब बातें सुन कर परेशान हो गये थे।

"मैं यह नहीं कहता कि जगमोहन बुरा लड़का है," उन के पिता ने कहा था, "वह कांग्रेसी न भी हो, तो भी यदि तुम चाहो तो उस से विवाह कर सकती हो। लेकिन उस की नीयत का ठीक पता तो चले!" और उन के पिता ने उन्हें आश्वासन दिया था कि यदि जगमोहन का मन हो तो वे प्रो० स्वरूप से, जैसे भी बन पड़े, अपना दो हज़ार रुपया ले आयेंगे, "मुझे स्वरूप ने विश्वास दिलाया है कि तुम्हारी शादी पर वह मेरा रुपया वापस कर देगा। तुम जगमोहन के मन की थाह लो। इस बात को लटकाओ नहीं। इसे लटकाने में बदनामी के सिवा कुछ हाथ न आयेगा। समझ लो मेरी सब से बड़ी चिन्ता यही है। मेरे और कोई बेटा-बेटी नहीं, तुम्हारी शादी हो जाय तो मैं निश्चिन्त हो कर अपने-आप को पूरी तरह कांग्रेस के काम में लगा दूँ!"

सत्या जी अपने पिता से क्या कहतीं? अकेले उन की बात होती तो वे कह देतीं, 'आप प्रोफ़ेसर स्वरूप से रुपया ले आइए।' पर यहाँ बात तो जगमोहन की थी और उस के मन की बात वे जानती न थीं।

०

रामलाल स्ट्रीट आ गयी। सामने, दूर जगमोहन के घर की मियानी के बारजे का छोटा-सा भाग दिखायी दे रहा था। सत्या जी का दिल धड़क उठा और गति

मन्द हो गयी। तभी अचानक बूँदियाँ पड़ने लगीं। उड़ता, बरसता बादल आया और धूप में झड़ी लगाने लगा। सत्या जी भाग सकती थीं, लेकिन गली में तो रामलाल के मकान के अतिरिक्त दूसरा कोई मकान न बना था और मैदान सपाट था। सत्या जी ने चाल कुछ तेज़ कर दी। चंचल हो कर भाग उठना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। तीव्र, किन्तु धीर-गति से वे चलती गयीं।

●

साँझ को जगमोहन से मिल कर सत्या जी घर आयीं तो उन का मुख खिला पड़ता था। आ कर उन्होंने हैंड-पम्प के नीचे बाल्टी भरी, नहायीं, नये कपड़े बदले और अपने बिस्तर में जा कर धँस गयीं। इस बीच वे निरन्तर अपनी चाची से, बच्चों से, नीचे आँगन में रहने वाली किरायेदारिन से हँस-हँस कर बातें करती रहीं। नहाते और बालों में कंघी करते समय गुनगुनाती रहीं और बिस्तर में लेटीं तो एक अजीब-सा शान्तिमय पुलक उन के मन-प्राण पर छा गया। तनिक-सा उठ कर दीवार से पीठ लगाये, वे खिड़की के बाहर देखने लगीं—ऊपर आकाश निरभ्र था, पर सामने क्षितिज पर काले-कजरारे बादल उमड़ रहे थे, जिन के किनारे पार्श्व में अस्त होते सूरज की सिन्दूरी लाली से रंजित थे। ठण्डी हवा रमक रही थी। बाहर मैदान में जंगली कबूतर उतर आये थे और बरसात में निकल आने वाले दानों और कीड़ों को गीली-गीली मिट्टी में चुग रहे थे। धर्म-भीरु हिन्दू वहाँ दाने डाल देते थे। वर्षा से मिट्टी धुल जाती थी, दाने चमक आते थे और पानी बन्द होने पर कीड़े और फिर कबूतर वहाँ आ जुटते थे। सत्या जी की दृष्टि वहाँ से दरवाज़े के बाहर बँधी अपनी गाय पर गयी। भर-पेट खा कर वह मौन-रूप से पागुर कर रही थी। सिर खिड़की से हटा कर उन्होंने पाँव सिकोड़ लिये और घुटनों को बाँहों के घेरे में बाँध कर ऊँघ गयीं।

वे जाने कब तक उसी तरह अधबैठी-अधलेटी रहतीं, पर उन के पिता आ गये। बिजली का बटन उन्हों ने दबाया और बोले, "अँधेरे में क्यों बैठी हो ?"

"पानी में भीग गयी थी," सत्या जी ने चौंक कर उठते और शरीर को तनिक-सा झटक कर प्रकृतिस्थ होते हुए कहा, "कपड़े बदल कर बैठी कि ऊँघ गयी।"

उन के पिता सिरहाने की ओर आ बैठे। सत्या जी को उन्होंने अपने पास

बैठने को कहा। जब वे चारपाई की पट्टी पर बैठ गयीं तो उन के पिता ने जेब से उस दिन का 'ट्रिब्यून' निकाला। विवाह सम्बन्धी विज्ञापन के पृष्ठ से मुड़ा हुआ था। कदाचित् उस पृष्ठ को पढ़, उसे मोड़ कर उन्होंने जेब में रख लिया था। शादी-ब्याह के कालम के एक विज्ञापन पर उन्होंने अँगुली रख दी। सत्या जी ने पढ़ा—अफ़रीका से विवाह हेतु हिन्तुस्तान आने वाले किसी धनी युवक के निमित्त कोई पढ़ी-लिखी, अच्छे घर की कुमारी दरकार थी। वह युवक वहाँ सेना में मेजर था और बड़ा धनवान था।

सत्या जी ने विज्ञापन पढ़ कर पत्र एक ओर रख दिया।

"मैं आज इस पते पर गया था।" उन के पिता बोले, "वे लोग लाहौर ही के रहने वाले हैं। मच्छीहट्टा में उन के पुरखों का मकान है। उन के पिता अफ़रीका चले गये थे। वहाँ उन्होंने साहूकारा करके लाखों बनाये। लड़के का स्वभाव बड़ा अच्छा है। खुले अंगों का है, लेकिन उम्र ज्यादा नहीं। तुम एक नज़र देख लो। लोगों की बातें सुन-सुन कर मैं आजिज़ आ गया हूँ। मेरे लिए बाहर निकलना मुश्किल हो गया है...."

"मैं कल आप को बता दूँगी।" सत्या जी ने रुखाई से कहा।

उन के पिता और कुछ नहीं बोले। चुपचाप उठ कर चले गये।

सत्या जी मुस्करायीं। समाचार-पत्र उन्हों ने उठा कर बेपरवाही से एक ओर फेंक दिया और फिर बिस्तर पर लेट कर जगमोहन के साथ अपने भावी जीवन के कल्पित सुख-सपनों में खो गयीं।

०

सुबह सत्या जी जल्दी नहीं उठीं; रात वे देर तक सोयी न थीं। अपनी चारपाई पर लेटे-लेटे वे गयी रात तक सपने देखती रही थीं।

जगमोहन ने जब उन्हें प्रो० कपूर के घर अपनी स्थिति की बात बतायी थी कि लड़के को पढ़ाने के अतिरिक्त बाज़ार से सब्ज़ी-तरकारी लाने से ले कर नन्हें को खेलाने तक का काम उसे करना पड़ता है और कहा था कि वह अब वहाँ कभी न जायगा तो सत्या जी ने उसे तसल्ली दी थी कि वह किसी प्रकार की चिन्ता न करे। जब तक वे हैं, उसे पढ़ाई से हाथ खींचने की ज़रूरत नहीं। उन के पिता की अन्य कोई सन्तान नहीं। नौकरी तो वे केवल अपने शौक के लिए

करती हैं, बेकार बैठने से उन का जी घबराता है, अपना सारे-का-सारा वेतन वे उसे ला कर दे दिया करेंगी। जगमोहन चुपचाप उन की बात सुनता रहा था। उस की चुप को स्वीकृति मान कर उन्हों ने मन-ही-मन निर्णय किया था कि वे न केवल स्कूल में पढ़ायेंगी, बल्कि स्वयं आगे पढ़ेंगी....विशारद उन्हों ने पास कर ही रखा था....एक वर्ष डट कर मेहनत करेंगी और शास्त्री की परीक्षा में उत्तीर्ण हो, सिर्फ़ अंग्रेज़ी में एफ़० ए०, बी० ए०, एम० ए० कर, एम० ए०, एम० ओ० एल० की डिग्री ले लेंगी। किसी कॉलेज की प्रिंसिपल हो जायेंगी और जगमोहन को साहित्य-सृजन के लिए स्वतन्त्र छोड़ देंगी। जगमोहन शायद अभी उन से विवाह करने में झिझकता है। शिक्षा की समस्या उस के सामने है, शायद आर्थिक समस्या भी है। वे उसे इन दोनों चिन्ताओं से मुक्त कर देंगी। उससे कह देंगी कि वे अभी शादी न करेंगे, केवल सगाई की घोषणा कर देंगे ताकि ज़माने का मुँह बन्द हो जाय और उन के पिता की चिन्ता मिटे। वे उसे सगाई के बाद भी आज़ाद छोड़ देंगी, उस का मन न हो तो विवाह न करे....और वे मुस्करायीं, क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास था कि वैसा अवसर कभी न आयेगा....रात उन्होंने अपने पिता से यह कहने का फ़ैसला कर लिया था कि अफ़रीका के उस खुले अंगों वाले साहूकार मेजर में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं। वे करेंगी तो जगमोहन ही से शादी करेंगी और निर्णय के बाद आश्वस्त और शान्त हो वे सो गयी थीं।

०

"जीजी, जीजी, उठो जगमोहन आये हैं।" दुरो ने उसे झकझोरा।

सत्या जी को दुरो का यह स्वर स्वप्न-लोक से आता लगा। जब किसी हठी मेहमान की हठी दस्तक की तरह यही स्वर बार-बार उन के कानों में आया तो वे उठ बैठीं। दोनों हाथों की उँगलियों को एक-दूसरी में फँसा कर उन्होंने एक अलस अँगड़ाई ली, "तुम उन्हें बैठक में बैठाओ, मैं अभी आती हूँ।" और चप्पल पहन कर वे अपने कमरे को चलीं।

"मैंने उन से कहा था," दुरो ने उन के पीछे चलते-चलते कहा, "पर वे आये नहीं, वे जल्दी में हैं।"

"उन से कहो मैं अभी आती हूँ।" और वे तेज़-तेज़ अपने कमरे की ओर

गयीं। जाते-जाते हैंड-पम्प पर रुक कर उन्होंने अपनी धोती का छोर गीला किया और उसे मुँह पर फेरते हुए शीशे के आगे जा कर बालों की दो-चार लटों को सँवारा, आँखों में हल्की-सी काजल की लकीर खींच दी और साड़ी को सिर पर ले कर नीचे धरती में दृष्टि जमाये डेवढ़ी की ओर चल दीं।

बाहर दुरो और जगमोहन में ट्रांसपोर्ट-यूनियन के सम्बन्ध में बातें हो रही थीं। जगमोहन ने अपने फ़ैसले का ज़िक्र किया था कि वह अब और आगे न पढ़ेगा। क्या करेगा, यह अभी वह तय नहीं कर पाया। दुरो कह रही थी कि वह ट्रांसपोर्ट-यूनियन की मीटिंग में अवश्य आये। उस का मन भी लगेगा और उन की सहायता भी हो जायगी।

डेवढ़ी ही से सत्या जी ने देखा कि जगमोहन के बाल-अस्त-व्यस्त हैं, चेहरा उतरा हुआ है और दुरो से बातें भी वह उखड़े-उखड़े ढंग से कर रहा है।

सत्या जी को आते देख कर दुरो ने नमस्कार के लिए हाथ माथे पर ले जाते हुए कहा, "अच्छा तो नमस्कार, मीटिंग में ज़रूर आइएगा।"

और वह पलट कर चली गयी। जगमोहन उस के नमस्कार के उत्तर में हाथ जोड़ना भूल गया। सत्या जी के आते ही उस ने जेब से एक बन्द लिफ़ाफ़ा निकाल कर उन्हें दिया। "मैं आप से कुछ कहना चाहता था, पर कह नहीं सका! मैंने सब इस में लिख दिया है।" उस ने बिना उन की ओर देखे कहा और पलट कर लगभग भागता हुआ-सा चला गया।

सत्या जी स्तम्भित-सी, विजड़ित-सी क्षण-भर उसे जाते देखती रहीं, फिर धड़कते हुए दिल के साथ पत्र को अपने कमरे में ले आयीं। चारपाई की पट्टी पर बैठ कर उन्होंने लिफ़ाफ़ा फाड़ा। जल्दी-जल्दी लिखी हुई कितनी ही स्लिपें उनके हाथ में आ गयीं। जगह और तारीख़ के बिना लिखा था :

सत्या जी,

रात के डेढ़-दो बजे हैं और मैं उठ कर आप को ये पंक्तियाँ लिखने बैठ गया हूँ, क्योंकि मैं समझता हूँ कि जब तक मैं यह सब लिख कर आप को पहुँचा न दूँगा, चैन न पा सकूँगा।

इस ख़त की ज़रूरत न पड़ती, यदि कल वे सब बातें हम में न हुई होतीं।

मैं आप को किसी तरह के धोखे में नहीं रखना चाहता। मैं आप से शादी नहीं कर सकता और इसलिए मैं नहीं चाहता कि आप मेरे यहाँ आयें।

मुझे यदि आप से प्रेम होता तो शायद मैं इतना परेशान न होता। पर मुझे आप से प्रेम नहीं। शायद आप समझें कि चूंकि आप ने स्वयं पहल कर विवाह का संकेत किया, इसलिए आप मेरी दृष्टि से गिर गयी हैं। ऐसी बात नहीं। मैं आप को पसन्द करता हूँ, आप की इज़्ज़त करता हूँ, आप से मुझे सहानुभूति भी है, लेकिन बात यह है कि मैं विवाह करने की स्थिति में नहीं हूँ। एम० ए० करने का ख़याल मैंने छोड़ दिया है। क्या करूँगा, कैसे रहूँगा, इस का कोई ठिकाना नहीं। आप ने जो स्नेह दिया, मेरी सहायता का जो आश्वासन दिया, उस के लिए 'आभार' शब्द बहुत छोटा जान पड़ता है। आप उतना स्नेह न करतीं तो ठीक-ठीक स्थिति से आप को परिचित करने के लिए मैं इतना बेचैन न होता। आप मेरा ख़याल छोड़ दीजिए। आप कहीं विवाह कर लीजिए। न करना चाहें तो कम-से-कम मेरे यहाँ न आइए। मुझे कोई चिट्ठी न लिखिए। मुझे विद्यालय में न बुलाइए। मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि भाभी अथवा भाई साहब के बहाने से भी आप मेरे यहाँ न आइए। आप के यहाँ मैं कभी न आऊँगा, मैं विश्वास दिलाता हूँ।

मैंने अपने विचारों को क्रम से रखने का प्रयास नहीं किया। मेरी कोई बात बुरी लगे, उसे क्षमा कर दीजिए। आप को बुरा कहना अथवा दुख पहुँचाना मुझे अभीष्ट नहीं। ठीक स्थिति बताना और आप के और अपने जीवन को नरक बनने से रोकना ही मुझे अभीष्ट है।

यदि आप इस पर भी मेरा पीछा करेंगी तो मैं लाहौर से भाग जाऊँगा, इस का मैं आप को विश्वास दिलाता हूँ।

—जगमोहन

०

पत्र पढ़ कर कुछ क्षण सत्या जी स्तब्ध-सी बैठी शून्य में तकती रहीं। फिर उन्होंने पत्र की एक-एक स्लिप के बीसों टुकड़े कर उन्हें खिड़की के बाहर बहा दिया। फटा लिफ़ाफ़ा नीचे गिरा पड़ा था। उसे उठा कर, और जैसे दुगुने वेग से उसे भी टुकड़े-टुकड़े करके उन्होंने बाहर फेंक दिया। फिर हताश-सी हो कर, वैसे ही टाँगें नीचे किये, वे सीधी लेट गयीं। अचानक एक गोला-सा उन के गले में अटक गया और उन के जी में आयी कि ज़ोर से रो उठें। किन्तु उन्हें रुलाई नहीं आयी। अन्दर-ही-अन्दर वह घुट गयी। उन्होंने एक गहरी लम्बी साँस भर कर करवट बदली—नीचे लटकी हुई टाँगें एक-दूसरी के ऊपर चली गयीं और उनका हाथ चारपाई की दूसरी पट्टी के नीचे निर्जीव-सा जा गिरा।

गत साँझ उन्हों ने 'ट्रिब्यून' का जो अंक फेंक दिया था, वह अब तक वहीं पड़ा था। उन का हाथ उसी पर जा पड़ा। तब जैसे वह बिजली का तार हो, वे चौंक कर उठीं, उन का क्रोध और झुँझलाहट जैसे दुगुने वेग से फिर उभर आयी। समाचार-पत्र लिये हुए वे सीधी अपने पिता के कमरे में गयीं। सन्ध्या-वन्दन कर, वे अभी तख्त पर बैठे थे। समाचार-पत्र सत्या जी ने उनके निकट फेंक दिया और धरती में दृष्टि जमाये हुए कहा, "आप वहाँ बात कर लें!" और जैसे आयी थीं, वैसे अपने कमरे में चली गयीं! दरवाज़ा लगा कर वे अपनी चारपाई पर जा गिरीं और फफक-फफक कर रोने लगीं।

o

सत्या जी को चिट्ठी देने के बाद जगमोहन जिस तेज़ी से पलटा, उस में सन्तनगर पहुँचने पर भी किसी प्रकार की कमी नहीं आयी। इधर-उधर देखे बिना, योग-साधकों की भाँति, मस्तक में ध्यान जमाये, वह तेज़-तेज़ चला जा रहा था। पर योग-साधकों की तरह उस के मस्तक में, 'ओइम्' अंकित न था, बल्कि वहाँ विचारों की ज़बरदस्त होड़ लगी थी और जैसे उसी होड़ के साथ पाँव मिलाये रखने की तेजी में, वह चला जा रहा था।

वैसे ही तेज़-तेज़ चलते हुए, अपनी उस विक्षिप्तावस्था में लिखी हुई उस चिट्ठी की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में उस ने सोचा और उस के दिमाग़ का तूफ़ान क्षण-भर के लिए थम गया। फिर जैसे वह तूफ़ान दूसरी दिशा को मुड़ गया—कल्पना-ही कल्पना में दसियों सम्भावनाएँ उस के सम्मुख घूम गयीं—उस चिट्ठी

को पढ़ कर असीम क्रोध अथवा ग्लानि के क्षण में सत्या जी ने आत्महत्या कर ली है—यह विचार बार-बार उस के दिमाग़ में आता। उस का दिल धक्-से हो जाता और वह तेज़-तेज़ चलने लगता।

....यह उस ने क्या कर दिया ? क्या वह किसी और तरह इस समस्या को हल न कर सकता था ? कॉलेज में पढ़ने का ख़याल तो उस ने छोड़ ही दिया था, क्यों नहीं वह कुछ दिन के लिए अपने घर चला गया ?....पर वह लुधियाना में कब तक रहता ? किस के पास रहता ? यदि वहाँ से आने पर वे फिर आना-जाना शुरू कर देतीं तो....उस ने अच्छा किया जो एक निर्मम प्रहार से वह सब इन्द्रजाल तोड़ दिया। उन्हें अपने पीछे लगाये रखना, उस आशा के तार को बनाये रखना क्या अच्छा होता ?—सूम भला वह सखी से, जो देवे तुरत जवाब ! —और वह मन-ही-मन संतुष्ट होता कि अच्छा हुआ उस ने वह किस्सा ही पाक कर दिया।

लेकिन फिर उसे उन पर दया आने लगती। पंडित रघुनाथ से तकरार होने के बाद उस ने संकेत किया था कि उनकी निंदा होगी, वे उस के घर न आया करें। भाई साहब की शिकायत के बाद उस ने अपने घर उन का आना एकदम बन्द कर दिया था। लेकिन इस या उस बहाने वे फिर आने लगी थीं।....'यह कैसी विवशता है जो आदमी को मानापमान का ख़याल छोड़, यह मार्ग अपनाने पर मजबूर करती है,' वह सोचता, 'क्या यदि दुरो उस का वैसा अपमान कर दे तो वह फिर उधर जाय ?....नहीं, वह कभी वैसा न करे....वह उस की याद को दिल में लिये हुए मर जाय, पर यों अपना अपमान न होने दे।'....

"अरे यार बड़ी सुबह सैर को निकल जाते हो ? मैं सुबह उठते ही तुम्हारी ओर आया। यहाँ देखा कि जनाब हवाख़ोरी को चले गये हैं।"

जगमोहन चौंका। वह होतूसिंह रोड पर पहुँच गया था। उस ने देखा, सामने वसंत चला आ रहा है।

"सैर को नहीं, काम से गोपालनगर गया था।"

"इतनी सुबह ?"

"हाँ, तुम अपनी कहो, किधर आये थे ?

"तुम्हारा ध्यान किधर है ? कह तो रहा हूँ तुम्हारी ओर आया था !"

"इतने सवेरे ! कैसे ?"

"तुम से एक सलाह करनी थी। साढ़े आठ बजे तो मुझे दुकान खोल देनी होती है। शाम को थक भी जाता हूँ, फिर तुम्हारा क्या भरोसा, शाम को घर मिलो न मिलो; सो सुबह उठते ही चला आया।"

"कहो ?"

"देखो सात बजने को हैं। ऐसे करो कि ज़रा पीछे मुड़ो। देव-समाज की तरफ़ से मेरे साथ कुछ दूर तक चलो। मैं समय से वापस भी पहुँच जाऊँगा और बातें भी हो जायेंगी।"

"अरे तो लस्सी का एक गिलास तो पीते चलो।"

और वसंत के 'न,' 'न,' करने पर भी जगमोहन उसे हलवाई की दुकान पर ले गया और उसने हलवाई को लस्सी के दो गिलास बनाने का आदेश दिया।

वसंत ने अपनी बात जारी रखी, "मैं फिर एक दोराहे पर आ गया हूँ !" उस ने कहा, "यहाँ दूसरा कोई आदमी नहीं, जिस की राय लूँ। मैंने सोचा तुम्हें ही पकड़ूँ और पूछूँ कि मैं जो करने जा रहा हूँ, वह ठीक है या नहीं ?"

जगमोहन का ध्यान सत्या जी ही में लगा था। उन पर उस पत्र की क्या प्रतिक्रिया हुई, वह कल्पना में यही देख रहा था। वसंत को चुप होते देख, उस ने कहा, "माफ़ करना, मेरा ध्यान भटक गया था। तुम क्या कह रहे थे ?"

"कुछ नहीं," वसंत ने कहा, "मैं यही कह रहा था कि एक निजी मामले में तुम्हारी राय लेना चाहता हूँ।"

"तो ठहरो," जगमोहन बोला, "ज़रा लस्सी का गिलास पी कर दिमाग़ को ताज़ा कर लिया जाय, ताकि राय ग़लत न हो, मेरा दिमाग़ कई कारणों से बड़ा परेशान है।"

लस्सी पी कर दोनों चल पड़े। वसंत ने फिर कहना शुरू किया, "तुम्हें याद होगा, मैंने तुम्हें अपनी सगाई की बात बतायी थी। मेरी सगाई एक बड़े अमीर घराने में हुई थी। लड़की सुन्दर है और मुझे पसन्द भी थी। पिता जी के बाद मेरे ससुर ने प्रस्ताव किया था कि यदि मैं इस बात का वचन दूँ कि मैं शादी उन्हीं की लड़की से करूँगा तो वे आगे मेरी पढ़ाई का खर्च उठा सकते हैं।"

"हाँ-हाँ।" जगमोहन ने अपनी परेशानी को बरबस दिमाग़ से हटाते हुए

कहा।

"मैंने ऐसा वचन देना स्वीकार न किया। उन के रुपये पर विलायत जाना भी मुझे स्वीकार न था, क्योंकि यह तो अपने-आप को बेचना होता। बीवी के रुपये पर विलायत जा कर मैं सदा के लिए उस का गुलाम हो जाता। लड़की को मैं पसन्द करता था। पर मैं अपनी बात पर अड़ा रहा और उन्होंने सगाई तोड़ दी।"

"तुम ने बिलकुल ठीक किया।" जगमोहन ने कहा। मन में उस ने सोचा—सत्या जी चाहती थीं कि वे कमायें और मैं आराम से साहित्य-सृजन करूँ—मैं कैसे वह स्वीकार कर लेता! अच्छा हुआ मैं उस कष्टकर स्थिति से निकल गया।

"मेरी मँगेतर यहीं लाहौर कॉलेज फ़ॉर विमेन में पढ़ती है।" वसंत ने अपनी बात जारी रखी, "एक दिन मैं शाम को दुकान पर खड़ा था कि वह एक सहेली के साथ आयी और उस ने कहा 'नमस्ते जी!' मैं अचकचाया, क्योंकि मैं उसे पहचान नहीं पाया। यह अवश्य लगा कि इस लड़की को कहीं देखा है, पर कहाँ, यह याद न आया। मैं सीढ़ियों से उतर आया।

" 'आप ने मुझे पहचाना नहीं।' वह मुस्करायी।

" 'जी मैं....मैं....'

" 'मैं राय देवीदयाल की बेटी हूँ—सरला!'

" 'ओह!' मैंने कहा, 'नमस्ते-नमस्ते!'

"और मैंने फिर हाथ जोड़ दिये। तब मालूम हुआ कि वह लाहौर पढ़ने आ गयी है। यहीं एफ़० ए० में दाखिल हुई है और यहीं से बी० ए० करेगी।

" 'यह मेरी सहेली है, सुहासिनी गौड़।' सरला ने कहा।

" 'नमस्ते जी।' मैंने एक बार फिर नमस्ते की।

" 'इस ने एक दिन कहा,' सरला बोली, 'कि संस्कृति-समाज' में वसंत जी ने कविता पढ़ी थी। इस ने आप की बड़ी प्रशंसा की। मन में ख़याल आया कि शायद कविता पढ़ने वाले वसंत आप ही हैं। दो-तीन बार फ़िर 'संस्कृति-समाज' को मीटिंग में गयी, पर आप मिले नहीं। आज सुहा ने आप को देखा तो बोली—यही वसंत जी हैं। आप ने इतनी अच्छी कविता लिखी, हमें नहीं सुनायी।'

" 'जो सुनाऊँगा।'

"हम बातें करते मार्केट के चौरस्ते तक ग्रा गये थे। 'चलिए एक कप कॉफ़ी पियें !' सरला की सहेली ने कहा।

" 'मैं तो इस दुकान पर नौकरी करता हूँ।' मैंने कहा, 'मैं छुट्टी ले कर नहीं ग्राया।' वास्तव में मेरी जेब में पैसे न थे ग्रौर इसलिए मैंने टाल जाना उचित समझा।

" 'चलिए, देख तो लिया है ग्रापके मालिक ने कि ग्राप हमारे साथ ग्राये हैं।' सरला ने कहा।

'पर भाई मेरी तो जेब ख़ाली है। ग्राप के साथ जायँ ग्रौर पैसे ग्राप दें, यह कुछ बैसा लगता है।'

" 'कुछ ऐसा नहीं लगता,' सरला ने कहा, 'चलिए ! कविता सुने बिना हम ग्राप को जाने न देंगे। इतना भी ग्रधिकार हमारा नहीं रहा ?'

"मेरी ग्रोर कनखियों से देखते हुए वह मुस्करायी। उस मुस्कराहट में जाने कैसा चांचल्य ग्रौर उस चांचल्य के बावजूद जाने कैसी उदासी थी कि मैं बह गया ग्रौर चुपचाप उन के संग चल पड़ा।"

'तो उन्होंने तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ा,' जगमोहन ने मन-ही-मन कहा ग्रौर ग्रौर उस के होंटों पर वेत्ताग्रों की-सी मुस्कान फैल गयी।

"कॉफ़ी-हाउस में सरला मेरे सामने बैठी ग्रौर सुहा बायीं ग्रोर। कॉफ़ी का ग्रार्डर देने के बाद सरला ने ग्रनुरोध किया कि मैं वही कविता सुनाऊँ जो मैंने 'संस्कृति-समाज' में पढ़ी थी। मैंने वही कविता सुनायी। ख़त्म हुई कि कॉफ़ी ग्रा गयी। बातों-बातों में सरला ने बताया कि बी० ए० उसी कॉलेज से करके वह यूनिवर्सिटी से एम० ए० करना चाहती है। वह होस्टल में रहती है, पर छुट्टियाँ ग्रपनी सहेली सुहा के यहाँ गुज़ारती है। सुहा ने मुझे शनि को बुलाया कि मैं उन के यहाँ जाऊँ ग्रौर शाम वहीं बिताऊँ।"

"तो ग्राखिर ग्रब बात कहाँ तक पहुँची है ?" जगमोहन ने हँस कर पूछा।

"बात यह है," वसंत ने ज़रा भेद-भरे स्वर में कहा, "इस बीच मैं कई बार सरला से मिला हूँ। उस रात जब हरीश जी हमें मिले थे, मैं सुहा के यहाँ सरला से मिलने गया था। वह कहती है कि यदि मुझे उस के पिता के ख़र्च पर ग्रागे पढ़ना या कम्पीटीशन में बैठना स्वीकार नहीं, तो मैं न ग्रागे पढ़ूँ, न कम्पीटीशन

में बैठूँ। पर उस का अनुरोध है कि मैं उसे न छोड़ूँ। मैं जो भी करूँ, जैसे भी अपने जीवन को निबाहने का फ़ैसला करूँ, वह मेरे साथ है। उस ने कहा है कि यदि मैं उस से किसी तरह की सहायता नहीं लेना चाहता तो न लूँ। यहीं कुछ महीने नौकरी करूँ और जब यूनिवर्सिटी गर्मियों की छुट्टियों के बाद खुले तो दाख़िल हो जाऊँ। दाख़िले में किसी तरह की कठिनाई हो, तो सुहा के पिता सिफ़ारिश कर देंगे। दो-एक ट्यूशनें वे दिला देंगे और इस तरह मैं एम० ए० कर लूँ। इस बीच में वह बी० ए० कर लेगी। बालिग़ हो जायगी। अव्वल तो उस के पिता मान जायेंगे, नहीं तो हम लोग सिविल-मैरेज कर लेंगे।''

'दे-मारा क्या और उठा-पटका क्या, बात तो एक ही है।' जगमोहन ने मन-ही-मन कहा, लेकिन प्रकट वह बोला, ''तो तुम ने क्या फ़ैसला किया ?''

''बात यह है कि मैं सरला को नापसन्द नहीं करता। मुझे उस के पिता का मोल-तोल बुरा लगा—जैसे सरला या मैं पण्य-वस्तुएँ हों—इसलिए मैंने इनकार कर दिया था, पर सरला का यह प्रस्ताव तो मुझे युक्ति-संगत लगा है। तुम्हारा क्या ख़याल है ?''

'तुम इस तरह उस के पिता की मदद न लोगे तो दूसरी तरह लोगे।' जगमोहन ने मन-ही-मन कहा, 'अव्वल तो तुम विलायत जाओगे, नहीं तो यहीं, आई० सी० एस० या पी० सी० एस० या और कोई अफ़सर बनोगे और ज़िन्दगी-भर कुर्सियाँ तोड़ोगे।'

''तुम क्या सोच रहे हो ?'' वसंत ने पूछा।

जगमोहन चौंका। ख़याल तो बुरा नहीं,'' उस ने कहा, ''मैंने तो तुम से पहले ही कहा था कि तुम्हें एम० ए० में दाख़िल हो जाना चाहिए।''

''मैं सोचता हूँ, तुम ठीक कहते हो। छुट्टियाँ समाप्त होते ही मैं एम० ए० में दाख़िल हो जाऊँगा। कुछ दिन साथ-साथ इकट्ठे पढ़ेंगे।''

''पर मैंने तो पढ़ाई छोडने का फ़ैसला कर लिया है।''

''क्या !'' वसंत ने चौंक कर पूछा।

''मेरी तो कोई ऐसी मँगेतर नहीं जो मेरे एम० ए० करने की बाट देख रही हो।'' जगमोहन हँसा।

वसंत भी हँसा। ''तो भी आख़िर बात क्या है ?'' उस ने पूछा, ''तुम तो

दाखिल हो गये हो !"

"हो तो गया हूँ, पर निभा न पाऊँगा। तुम ने ठीक कहा था, साधन के बिना एम० ए० करना व्यर्थ है। थर्ड-क्लास एम० ए०-करने की अपेक्षा न करना भला। फिर भाई, मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि यदि एम० ए० करना—अच्छे नम्बरों से एम० ए० करना—ही ध्येय हो तो किसी-न-किसी तरह, किसी-न-किसी की सहायता से किया जा सकता है। पर यदि स्वाभिमान के साथ वह सब करना अभीष्ट हो तो मुश्किल है। जब तक देश आज़ाद नहीं होता और सब को उन्नति के एक-सरीखे अवसर नहीं मिलते, तब तक मुझ-जैसों के लिए एम० ए० बन कर कोई छोटी-मोटी नौकरी कर, इस व्यवस्था को पुष्ट करने के बदले, बिना एम० ए० किये, इस की जड़ों में मठा डालना अधिक श्रेयस्कर है।"

"बड़े कटु हो गये हो इस बीच में ! बात क्या है ?"

"कुछ नहीं। मैंने फ़ैसला कर लिया है कि हरीश के साथ कांग्रेस में काम करूँ और देखूँ कि इस तरह अपने-जैसे दूसरों की मुश्किल कुछ आसान कर सकता हूँ कि नहीं। पर तुम एम० ए० में ज़रूर दाखिल हो जाओ। तुम्हारी बात दूसरी है। अच्छा, अब मुझे छुट्टी दो। बहुत दूर आ गया हूँ।"

और हाथ मिला कर जगमोहन तेज़-तेज़ वापस पलटा।

दस

'येलो-बस-सर्विस लिमिटेड' के मैनेजिंग डायरेक्टर मि० चोपड़ा क्रोध और आवेग के मारे दफ़्तर की इस दीवार से उस दीवार तक चक्कर लगा रहे थे। उस छोटे से कमरे में, जो चोपड़ा साहब के आफ़िस का काम देता था, उन की बड़ी मेज़ और चार कुर्सियों के बाद बहुत थोड़ी जगह बचती थी। फिर इस समय तो उन कुर्सियों पर कम्पनी के हृष्ट-पुष्ट डायरेक्टर लाला रोशनलाल और सरदार हरनामसिंह आदि विराजमान थे। उसी तंग जगह में अपने लम्बे, ऊँचे, भारी-भरकम शरीर के साथ घूमते हुए मि० चोपड़ा कमरे को और भी सँकरा बना रहे थे। उन के हाथ में 'येलो-बस-सर्विस-यूनियन' की चिट्ठी थी, जिस में यूनियन ने अपनी माँगें पेश की थीं और चेतावनी दी थी कि यदि माँगें स्वीकार न की

जायेंगी तो यूनियन स्ट्राइक कर देगी। मिस्टर चोपड़ा चिट्ठी का कुछ भाग पढ़ चुके थे। सहसा रुक कर उन्होंने अपने साथी डायरेक्टरों से कहा, "चिट्ठी का लहजा देखा आप ने ? अब ज़रा इन की माँगें भी सुनिए।" और वे पूर्ववत् घूमते हुए चिट्ठी पढ़ने लगे :

'१. यूनियन को कम्पनी की ओर से मान्यता दी जाय !

२. कंडक्टरों, ड्राइवरों, इंस्पेक्टरों, मेकेनिकों, क्लर्कों, चौकीदारों के मूल वेतन (Basic Pay) को बढ़ाया जाय और उस में वार्षिक वृद्धि की दर निश्चित की जाय।

३. जो कर्मचारी छै महीने से ऊपर नौकरी कर चुके हैं, उन की नौकरी को स्थायी किया जाय।

४. सभी नौकरियों पर पेन्शनें देने की व्यवस्था की जाय !'

"कम्पनी ही सारी यूनियन को दे देते हैं।" चोपड़ा ने व्यंग्य से कहा, ओठों में 'बर्रर्र' की-सी ध्वनि करते हुए असंतोष प्रकट किया और फिर पढ़ने लगे :

'५. तरक्कियाँ सीनियारिटी के लिहाज़ से हों।

६. एक वर्ष में दो महीने की अर्जित तथा बीस दिन की आकस्मिक छुट्टी दी जाय।

७. बस-सर्विस के सभी कर्मचारियों को बिना फ़ीस डॉक्टरी सहायता दी जाय।

८. पब्लिक को बस के मुलाज़िमों के विरुद्ध जो शिकायतें हों, वे एक कमेटी के सामने पेश की जायँ ! उस कमेटी में व्यवस्थापकों और कर्मचारियों का समान-प्रतिनिधित्व हो। पब्लिक की शिकायतों के बहाने मैनेजर द्वारा कर्मचारियों को निकालने और अपने आदमी रखने की जो प्रथा है, उसे बन्द किया जाय।

९. दुर्घटनाओं की सूरत में कम्पनी के मुलाज़िमों को कम्पनी की ओर से वकील करके अदालत में अपनी सफ़ाई देने की पूरी सहायता दी जाय और उन्हें पुलिस की दया-माया पर न छोड़ दिया जाय।

१०. कम्पनी के कर्मचारियों की शिक्षा और संस्कृति की वृद्धि के हितार्थ

उचित व्यवस्था कम्पनी के खर्च पर की जाय और उस का प्रबन्ध यूनियन को सौंपा जाय ।'

चिट्ठी में सभी चौकीदारों की ड्यूटी के समय में कमी, कुछ और चौकीदारों की नियुक्ति आदि के सम्बन्ध में और भी माँगें थीं, किन्तु चोपड़ा साहब के संतोष का प्याला यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते लबालब भर गया, चिट्ठी को पढ़ते-पढ़ते क्रोध से उन्होंने उसे अँगुलियों में भींच कर तोड़-मरोड़ डाला और ज़ोर से मेज़ पर फेंक दिया ।

"आजकल कॉलेज के छोकरों को और कोई काम नहीं सूझता तो मज़दूरों की भलाई के पीछे लट्ठ ले कर चल पड़ते हैं ।" बेज़ारी की एक 'उँह' नाक से निकाल और होंटों से 'बर्रर' की-सी आवाज़ करते हुए मिस्टर चोपड़ा ने कहा, "यह जो सात-आठ बरस मैंने अनथक मेहनत की है (सहसा उन्हें खयाल आया कि दूसरे डायरेक्टर भी बैठे हैं, और उन्होंने इतना और बढ़ा दिया) और अपने मित्रों से इतना रुपया लगवाया है, वह सब क्या इसलिए कि शहर का कोई बेकार लौंडा उठे और कम्पनी की बागडोर मैं उसे सौंप दूँ ।"

"किस ने यह यूनियन ऑर्गेनाइज़ की है ?" सहसा रायबहादुर जवन्दलाल ने पूछा ।

"कोई हरीश है । कम्पनी के मुलाज़िमों में तो यह नाम मेरे देखने में आया नहीं ।"

"अजी यही कोई कॉलेज का छोकरा-ओकरा होगा ।" सरदार हरनामसिंह ने कहा, "कल मैं सरक्यूलर रोड पर जा रहा था कि ताँगों के अड्डे पर एक स्टूल रखे कोई छोकरा उन्हें यूनियन के फ़ायदों पर लेक्चर दे रहा था ।" और उन्होंने ज़ोर का एक डकार लिया ।

"ये मुफ़्तखोरे इन ग़रीबों की गाढ़े पसीने की कमाई चन्दों के रूप में इकट्ठा करते हैं और क़ॉफ़ी-हाउस में जा कर उड़ा देते हैं ।" रायबहादुर जवन्दलाल ने रद्दा जमाया ।

"आप ज़रा मुझे दिखा दीजिए, मैं उन कम्बख्तों को दो ही झापड़ में ठीक कर दूँ ।"

चोपड़ा साहब ने क्षण-भर रुक कर झापड़ मारने का प्रस्ताव करने वाले की

ओर देखा और फिर ज़ोर से हँस दिये, "तुम भी रोशन यार, वही पुराने लड़ाके रहे। उम्र ने तुम्हारे जोश को ज़रा भी ठण्डा नहीं किया। ज़रा अपने साथी की ओर तो देखो।"

और दोनों की निगाहें सरदार हरनामसिंह पर जम गयीं, जो बढ़िया सूट पहने, दस्तार सजाये, दाढ़ी 'ईवनिंग-इन-पेरिस' के फ़िक्सर और ठाठे की मदद से जमाये बैठे थे। उनके कोट के दोनों दामन पेट की मोटाई के कारण नीचे को खिसक गये थे और वे बड़े मज़े से बैठे डकार-पर-डकार ले रहे थे।

"यह पुराना कायर है!" रोशनलाल ने कहा और अपनी छै फ़ुट लम्बी देह और सैंतीस इंच चौड़े सीने को आगे निकाल वहीं खड़े हो गये। आस्तीन को चढ़ा, बाँह को दोहरा कर उन्होंने चोपड़ा को अपनी बाँह की मछली और मोटाई दिखायी। "मन-मन का मुगदर अब भी बाकायदा सुबह उठ कर फेरता हूँ," उन्होंने कहा, "आप ज़रा दिखला-भर दीजिए। उस लौंडे के दिमाग़ से उम्र-भर के लिए यूनियन का ख़याल न निकाल दूँ तो रोशन नाम नहीं।"

चोपड़ा साहब का क्रोध हवा हो गया। वे फिर आराम से कुर्सी पर बैठ गये। एक नज़र उन्होंने अपने साथियों पर डाली और उन की मुस्कान और भी फैल गयी। कम्पनी के कार्यक्षेत्र को बढ़ाने के लिए एक स्कीम पर विचार करने को चोपड़ा साहब ने उन्हें बुलाया था, पर अभी वे स्कीम को उन के सामने रख भी न पाये थे कि उन्हें यूनियन की यह चिट्ठी मिली और वे उस में उलझ गये। उन की मुस्कान का कारण रोशनलाल की दिलेरी न थी, बल्कि अपने दूसरे साथियों की बेफ़िक्री थी (जो वास्तव में चोपड़ा के श्रम और कौशल का परिणाम थी।) कॉलेज के छोकरों और यूनियन के अलटीमेटम की चिंता छोड़ कर लाला जवन्दलाल ऊँघ गये थे और कायरता के अभियोग का उत्तर हरनामसिंह ने एक ऊँचे-से डकार के रूप में दिया था।

चोपड़ा की सबसे बड़ी ख़ूबी उन की यही मुस्कान थी। क्रोध उन्हें बिलकुल न आता हो, ऐसी बात नहीं, पर वे क्रोध में रोशनलाल की तरह किसी को झापड़ देने की बात कभी न सोचते थे। बल्कि क्रोध उन की सोचने की शक्ति को और भी तेज़ कर देता था। सोच-समझ, व्यावहारिकता और दुनियादारी उन में अपने सहयोगियों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा थी। मुस्कान को मुखर बना

कर उन्होंने कहा, "तुम बैठ जाओ रोशन ! तुम्हारे ज़ोर की ज़रूरत नहीं। ज़ोर-ज़बरदस्ती से एक-आध को तो दुरुस्त किया जा सकता है, सब को नहीं ! उसके लिए...." और उन्होंने उँगुली से माथे की ओर संकेत किया...."इसकी ज़रूरत है। एक हफ़्ता भी स्ट्राइक चल जाय तो हमारा हज़ारों का नुकसान हो जायगा।"

रोशनलाल बैठ गया। चोपड़ा साहब ने घण्टी पर हाथ मारा। चपरासी ने तत्काल अन्दर आ कर 'जी हुज़ूर' बुलायी।

"बाबू रामसहाई को सलाम बोलो।"

चपरासी चला गया तो उन्हों ने अपने साथियों से कहा कि वे यूनियन से निबट लें तो फिर नयी स्कीम पर विचार करेंगे।

उत्तर में सरदार हरनामसिंह ने फिर ज़ोर का डकार छोड़ा। रायबहादुर जवन्दलाल का ख़र्राटा बीच में ही रुक गया। रोशनलाल उठा। वह इतने ही में ऊब गया था, "कोई ऐसी मुश्किल पड़े तो मुझे बुला लेना, मैं इन सब को पल-भर में ठीक कर दूँगा।" उसने कहा और माथे की ओर संकेत करते हुए बोला, "इस की ज़रूरत से मैं इनकार नहीं करता, लेकिन इसकी ज़रूरत भी दुनिया में कम नहीं।" किस की ? इस के संकेत में उस ने अपनी बलिष्ठ बाँह को दोहरा कर, मछली दिखा दी।

"हाँ-हाँ !" चोपड़ा साहब ने मुस्करा कर कहा, "ज़रूरत पड़ी तो तत्काल तुम्हें बुलाऊँगा।"

रोशनलाल के साथ सरदार हरनामसिंह भी उठे, "आज खाना कुछ ज़्यादा खाया गया। मुर्ग़-मुसल्लम बना था। पूरा-का-पूरा उड़ा गया।" और उन्होंने फिर डकार लिया, "मेरा इरादा तो शिमला पहाड़ी तक सैर को जाने का है।"

रायबहादुर जवन्दलाल ने आँखें खोल कर 'रिप-वैन-विंकल'[१] की तरह आश्चर्यचकित दृष्टि से अपने चारों ओर देखा और फिर कुछ रोनी-सी आवाज़ में बोले, "मैंने तो आज इसी मीटिंग के लिए कचहरी जल्दी बरखास्त कर दी। ख़ैर,

---

१. अँग्रेज़ी कहानी का एक रवायती नायक, जो एक गुफा में बीस वर्ष सोने के बाद अपने नगर वापस लौटा था।

कोई मामले-मुकदमे की बात हो या कोई कुछ वैसी गड़बड़ करे तो मुझे बताना, मैं डिप्टी-कमिश्नर से कह कर कम्बख्तों को दो-चार दिन हवालात में बन्द करा दूँगा। सीधे हो जायेंगे।"

वे रायबहादुर थे। १६२१ के आन्दोलन में उन के दरवाज़े पर सियापा हुआ करता था और लोग 'टोडी बच्चा हाय हाय!' की पुकार से वातावरण को गुंजा देते थे, पर उसी ख़ुशामद की बदौलत वे रायसाहब से रायबहादुर बने थे और ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट नियुक्त हुए थे। शहर में दो कोठियाँ उन्होंने बनवायी थीं और बड़े-से-बड़े अफ़सर तक उन की पहुँच थी।

"जी हाँ, इस की ज़रूरत पड़ी तो आप को पता दूँगा," चोपड़ा साहब ने कहा, "पर मेरी कोशिश यही रहेगी कि इस की ज़रूरत न पड़ें। हमारा काम पब्लिक से पड़ता है। पब्लिक हमारे ख़िलाफ़ हो जाये तो काम चौपट हो जायेगा।"

रायबहादुर जवन्दलाल के जाने के कुछ क्षण बाद बाबू रामसहाई अन्दर आये—पैंतालीस-पचास वर्ष की उम्र, शलवार, कमीज़, कोट और पगड़ी पहने, कन्धे ज़रा-से झुके हुए, जिस से बड़ा हल्का-सा कूबड़ निकला हुआ, मुँह पर खुशामद-भरी सहज मुस्कान और उस के कारण दोनों ओर गालों पर बन जाने वाली आड़ी लकीरें और आँखों में चतुराई-भरी चमक! दफ़्तर ही की नहीं, चोपड़ा साहब के घर की व्यवस्था भी बाबू रामसहाई ही करते थे। चोपड़ा साहब और उन की श्रीमती की छोटी-से-छोटी इच्छा का भी उन्हें खयाल रहता था और यही कारण था कि साठ रुपये मासिक से उन्नति कर वे उस समय डेढ़ सौ रुपया मासिक पा रहे थे और जहाँ चोपड़ा साहब कम्पनी के मैनेजिंग-डायरेक्टर थे, वहाँ वे जनरल-मैनेजर थे।

रामसहाई के आते ही चोपड़ा ने उन्हें कुर्सी पर बैठने के लिए कहा और यूनियन की चिट्ठी उन के आगे खिसका दी।

०

बाबू रामसहाई ने पहले सोचा था कि चपरासी के हाथ नूरे को बुला भेजें और उससे बातचीत करके यूनियन को तोड़ने की कोई सबील निकालें, पर बाद में सोच-विचार कर, वे इस नतीजे पर पहुँचे कि उन्हें स्वयं उस के घर जा कर उस से

बात करनी चाहिए।

किसी प्रतिष्ठित ट्रांसपोर्ट-कम्पनी के जनरल-मैनेजर का किसी साधारण कण्डक्टर या इन्सपेक्टर के घर जाना वैसा अच्छा नहीं लगता, पर बाबू रामसहाई मानापमान के प्रश्न को वैसा महत्व न देते थे।

'लायन प्रेस' के पीछे तबेले में जा कर जब बाबू रामसहाई ने नूरे के घर दस्तक दी तो दरवाज़ा उस की लड़की ने खोला और उन के पूछने पर बताया कि नूरा घर पर नहीं है। तब बाबू रामसहाई ने अपना नाम बताया और कहा कि वे बड़े ज़रूरी काम से आये हैं, वह अपनी माँ से दो बात करने को कहे।

बाबू रामसहाई का नाम सुनते ही नूरे की बेगम ने आँगन में पीढ़ा बिछा दिया, उन्हें आवाज़ दी कि अन्दर आ जायँ और लड़की से कहा कि बावर्चीख़ाने में चली जाय।

आँगन में प्रवेश करते ही बाबू रामसहाई ने, नूरे से भाई का रिश्ता स्थापित करते हुए, भाभी को सलाम कहा और फिर पीढ़े पर बैठते हुए घर का हाल-चाल पूछा।

उत्तर में नूरे की बेगम ने माथे पर हाथ मारा और कहा कि जब से वह डिमोट हुआ है, उन पर तो जैसे मुसीबतों के पहाड़ टूट पड़े हैं। 'तनख़ा' ला कर देना तो दूर रहा, वह उस की हँसली तक बरबस छीन कर शराबख़ाने की भेंट चढ़ा आया है। उन्हें तो रोटियों के लाले पड़े हैं। दो दिन से घर में चूल्हा नहीं जला। और वह पड़ोसियों से माँग-ताँग कर अपना और अपनी बेटी का पेट पाल रही है।

अपनी दुर्दशा की बात बताते हुए नूरे की बेगम के नेत्र सजल हो गये। "अपनी तो फिकिर नहीं बाबूजी," उस ने कहा, "किसी-न-किसी तरह मेहनत-मजूरी करके, माँग-ताँग कर पेट का दोज़ख भर ही लूँगी। फिकिर तो नूरी की है," उस ने बावर्चीख़ाने में अपनी बेटी की ओर संकेत किया, "यह अब सोलहवें में है। इसके हाथ पीले करने को दो टूम्बें और चार कपड़े तो चाहिएँ!"

बाबू रामसहाई की नज़र बावर्चीख़ाने की ओर गयी, जिस पर टाट का पर्दा पड़ा हुआ था और जिस के पीछे खड़ी नूरी उन की ओर देखती हुई बातें सुन रही थी। बड़े ही सहानुभूतिपूर्ण स्वर में उन्होंने सिर्फ़ इतना कहा, "सब-कुछ ठीक हो

जायगा भाभी, भगवान पर यकीन रखो।" जेब से उन्होंने दस-दस के पाँच नोट निकाले और कहा कि अभी वह उतने रुपये रखे। शीघ्र ही वे मालिक से कह कर नूरे को फिर बहाल करा देंगे और यदि उस ने फिर कोई गड़बड़ न की तो उस की तरक्की के लिए भी कोशिश करेंगे।

"तरक्की तो करा देंगे बाबूजी, पर इससे हमारा क्या भला होगा ?" नूरे की बेगम ने कहा, "अब वह औरों के घर जाता है, फिर औरों को घर लायेगा। कुछ ऐसा करो बाबूजी, जिस से हम को भी खाने को दो टुकड़े मिलते रहें।"

"वही तो किया था।" बाबू रामसहाई ने ज़रा ज़ोर दे कर कहा, "उस की जो तनखाह काटी थी, वह तुम्हारे हाथ में ला कर रख दी। मालिक ने तो अपने पास कुछ नहीं रखा।" यहाँ बाबू रामसहाई ने अपने मालिक चोपड़ा साहब की उदारता और भलमनसी की बड़ी तारीफ़ की और कहा, "लेकिन नूरे ने जो तूफ़ान मचाया है, उस से मालिक का बहुत नुकसान होने का डर है।" और उन्होंने नूरे की बेगम को समझाया, "अगर मालिक का नुकसान होगा तो क्या आप लोगों का न होगा ?"

"क्यों नहीं बाबूजी," नूरे की बेगम ने कहा, "उस की सोहबत असल में अच्छी नहीं, बुरे लोगों में बैठता है, बुरी बातें सुनता है और बुरी बातें सोचता है।"

"सब ठीक हो जायगा।" बाबू रामसहाई ने कहा, "भगवान में यकीन रखो।" और फिर धीमे स्वर में बोले, "देखो नूरा आये तो उसे बता देना कि उस की जो तनखाह काटी गयी थी, वह मालिक ने उस के घर पहुँचा दी है। अगर वह कुछ रुपये माँगे तो उसे दे देना। तुम लोगों को ज़रूरत पड़ेगी तो मैं और दे जाऊँगा। उसे समझाना कि मालिक से दुश्मनी करने में कोई फ़ायदा नहीं और दोस्ती करने में फ़ायदा-ही-फ़ायदा है। वह आये तो उसे मेरे पास भेजना।"

"वह तो रात को बड़ी देर में आता है।" नूरे की बेगम ने कहा।

"कल सुबह भेजना।" बाबू रामसहाई बोले और 'अच्छा भाभी सलाम' कह और उसे एक बार फिर तसल्ली दे कर चले आये।

०

दूसरे दिन बाबू रामसहाई ने नूरे के आने की प्रतीक्षा नहीं की, बल्कि सुबह-सुबह उसे घर पर ही जा पकड़ा ।....तहमद लगाये और खुले गिरेबान की कमीज़ पहने (जिस के बटन लगाने का कष्ट उस ने नहीं किया था) नूरा तबेले के कुएँ पर खड़ा अपने पड़ोसियों को अपनी कारगुज़ारी सुना रहा था कि किस तरह उस ने अपने मालिकों के होश ठिकाने करने का फ़ैसला किया है और बता रहा था कि कैसे मालिक उस से डर गये हैं और उसकी जितनी 'तनखा' काटी थी, वह झख मार कर उन्होंने उसके घर पहुँचा दी है ।

तभी बाबू रामसहाई ने पीछे से उस के गले में हाथ डालते हुए कहा, "कहो भाई नूर मियाँ, दिखायी नहीं देते ।"

"दिखायी तो ऐसे देंगे कि कभी नज़र ही से न उतरें," नूर मियाँ ने अपने-आपको उन के स्नेहालिंगन से मुक्त करते हुए कहा, "ज़रा यूनियन बना लें !"

"अरे यूनियन बनाते रहो, पर काम पर भी आओ, तनख़ाह मालिकों के सिर पर चढ़ती रहेगी ।"

"तनख़ा की हमें क्या परवाह है," नूर ने सगर्व कहा, "यूनियन का काम करते हैं, सो अपने-आप हमारी तनख़ा पूरी करेगी ।"

बाबू रामसहाई फिर उस के गले में हाथ डाले, बातों में उलझाये, उसे खालसा होटल में ले आये । वहीं एक कुर्सी पर बैठ, तिपाई आगे खींच, उन्होंने अद्धे का आर्डर दिया ।

नूर ज्यों-ज्यों पीता गया, उस की मस्ती बढ़ती गयी और वह शेख़ियाँ बघारने लगा ।

क्या बात है तुम्हारी !" बाबू रामसहाई ने उस की प्रशंसा करते हुए कहा, "मालिकों के सामने तो नहीं, पर जब हम क्लर्क लोग बैठते हैं तो आपस में तुम्हारी ख़ूब तारीफ़ करते हैं कि तुम खुद कुर्बानी करके हमारी ज़िंदगी बना रहे हो ।" (यहाँ उन्होंने बताया कि वे जनरल मैनेजर हैं तो क्या, पर मालिकों की डाँट तो उन्हें क्लर्कों से कम नहीं सुननी पड़ती ।) मैनेजिंग-डायरेक्टर और दूसरे डायरेक्टरों को नूरे ही की ज़बान में दो-चार भारी-भरकम गालियाँ देते हुए, बाबू रामसहाई ने कहा, "खून-पसीना तो हम लोग बहाते हैं, पर सब कमाई तो डायरेक्टरों के घरों में जाती है । तुम यूनियन बनाओ । मैं तुम्हें यकीन दिलाता हूँ

कि सब से पहले मैं उस का मेम्बर बनूँगा; और मैं मेम्बर बना तो कम्पनी का एक भी मुलाज़िम ऐसा न रहेगा, जो हमारा साथ न दे। हम सब लोग मिल जायँगे तो फिर है कोई ऐसा जो हमारी बात न माने!"

नूरे लड़खड़ाता हुआ जोश में उठा, "अज्ज शाम नूँ मीटिंग ऐ। मालकाँ नूँ अपनियाँ माँगाँ असीं भेज छड्डीयाँ हुए! ओहनाँ न मन्नियाँ ते असीं वेख लाँगे।"[1]

"मैं ख़ुद सब क्लर्कों के साथ मैनेजिंग-डायरेक्टर से कह दूँगा कि हम भी यूनियन में शामिल हो रहे हैं।" बाबू रामसहाई ने कहा, "तुम ज़रा चलो तो मेरे साथ। तुम साथ रहोगे तो हमें भी हिम्मत बँधी रहेगी। देखें हमारी बात का क्या असर पड़ता है। क्या जाने मालिक हमारी माँगें मान ही लें!"

"हाँ हाँ चल्लो, मैं किसे तो नईं डरदा।" उस ने एक ही साँस में गिलास ख़त्म कर, कमीज़ के दामन से होंट पोंछते हुए झूम कर कहा।

बाहर निकल कर दोनों एक ताँगे पर सवार हो गये।

०

एक दिन पहले यूनियन की ओर से जो माँगें मैनेजिंग-डायरेक्टर को भेजी गयी थीं, हरीश जी उन का महत्व, यूनियन की आम-सभा में, मज़दूरों को समझा रहे थे।

"हम ने अपनी माँगें तैयार करने के लिए जो कमेटी बनायी," हरीश जी कह रहे थे, "उसने काफ़ी सोच-विचार के बाद माँगें मैनेजिंग-डायरेक्टर को भेजी हैं, आप देखेंगे कि हमने कम्पनी के हर डिपार्टमेंट में काम करने वालों के अधिकारों का ख़याल रखा है।

"कुछ मज़दूर मित्रों ने मुझ से कहा है," हरीश जी अपनी बात जारी रखते हुए बोले, "कि हमारी माँगें सख़्त हैं, कम्पनी उन्हें कभी न मानेगी। मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूँ कि यदि वे एक हो कर अपनी माँगों पर डटे रहेंगे और वक्त पड़ने पर स्ट्राइक करने और कुर्बानी देने को तैयार होंगे तो वे देखेंगे कि झख मार कर

---

१. मालिकों को अपनी माँगें हमने भेज दी हैं। उन्होंने न मानीं तो हम देख लेंगे।

कम्पनी उन माँगों को स्वीकार करेगी। मैं अपने मज़दूर दोस्तों को बताना चाहता हूँ कि हमारी माँगें ज़रा भी सख़्त नहीं। वे पूर्णरूप से उचित हैं, आवश्यक हैं। हम ने कर्मचारियों की ज़रूरतों का पूरा ख़याल...."

हरीश जी अभी यहाँ तक पहुँचे थे कि बाहर बारजे में खड़े किसी मज़दूर ने चिल्ला कर कहा कि नूरदीन और बाबू रामसहाई और कम्पनी के दूसरे क्लर्क आ रहे हैं।

जहाँ तक इस आन्दोलन का सम्बन्ध था, यद्यपि ड्राइवर, कण्डक्टर, क्लीनर और दूसरे मज़दूर हरीश जी के साथ थे, कम्पनी के क्लर्क दूर-दूर ही रहे थे। वे यह तो चाहते थे कि यूनियन उन के लिए लड़े, पर स्वयं वे खुल कर आन्दोलन में कोई भाग न लेना चाहते थे। इसलिए क्लर्कों के आने की बात सुन कर हरीश जी चौंके। लेकिन अभी वे सोच ही रहे थे कि किसी ने आ कर हरीश जी को बताया—'मैनेजिंग-डायरेक्टर ने यूनियन की सब माँगें स्वीकार कर ली हैं और बाबू रामसहाई और दूसरे क्लर्क भी यूनियन के मेम्बर बनेंगे।' तभी विजेताओं की भाँति नूरदीन हॉल में दाख़िल हुआ। उस के गले में दो-तीन हार पड़े हुए थे, आँखें लाल थीं और मूँछें उठी हुई थीं। हॉल में आते ही उसने ज़ोर से नारा लगाया, "येलो-बस-यूनियन...."

और हॉल 'ज़िंदाबाद' के नारों से गूँज उठा।

जब नारों का ज़ोर कुछ कम हुआ तो नूरदीन ने बताया कि मैनेजिंग-डायरेक्टर यूनियन को तसलीम करने को तैयार हैं। उन्होंने नूरदीन से माफ़ी माँगी है और उसे इन्सपेक्टर बना दिया है। (यहाँ नूरदीन ने अपनी मूँछों को ताव देते हुए अपने बल-बुद्धि की प्रशंसा की और अपनी बीवी को भला-बुरा कहा जिस ने जा कर मैनेजिंग-डायरेक्टर को परेशान किया) फिर उस ने बताया कि किस तरह अपनी बेइज़्ज़ती का बदला लेने के लिए उस ने कसम खायी थी, जो आज पूरी हुई। कम्पनी जिस मुलाज़िम के साथ बदसलूकी करेगी, वह (यहाँ उस ने सीने पर हाथ मारा) उस का बदला लेने के लिए पहाड़ की तरह खड़ा हो जायगा। (मज़दूरों ने 'नूरदीन ज़िंदाबाद' के नारे लगाये) उन के शान्त होने पर उसने बताया कि मैनेजिंग-डायरेक्टर ने नूरदीन से इच्छा प्रकट की है कि सब मुलाज़िम यूनियन के मेम्बर हों और अपनी बेहतरी के काम को स्वयं अपने हाथ

में लें। उन्होंने यह भी इच्छा प्रकट की है कि यूनियन के सदस्यों की एक कमेटी उन से मिले और वे उन की माँगों पर विचार करेंगे ।

इस पर बहुत देर तक तालियाँ बजती रहीं और नारे लगाये जाते रहे ।

इस के बाद बाबू रामसहाई खड़े हुए। उन्होंने मैनेजिंग-डायरेक्टर की प्रशंसा की कि वे कितने दयावान और न्यायप्रिय हैं और नूरदीन की 'डिमोशन' भी उन्होंने नहीं, स्वयं बाबू रामसहाई ने ही की थी, क्योंकि वह सारी कमाई शराब-खाने में उड़ा देता था। उनका खयाल था कि इस से नूरदीन को समझ आयेगी। वास्तव में उस की पूरी पगार उसे मिलती रही है, क्योंकि जितनी कटी, वह उस के घर जाती रही है। मैनेजिंग-डायरेक्टर कभी स्वयं क्लर्क थे, वे क्लर्कों और मज़दूरों के हितों को अच्छी तरह समझते हैं। "आप लोग अपने प्रतिनिधि और नेता चुनिए," उन्होंने सोत्साह कहा, "मैनेजिंग-डायरेक्टर से मिल कर बात कीजिए, भगवान ने चाहा तो आपकी अधिकांश शिकायतें दूर हो जायँगी।" और उन्होंने शोक प्रकट किया कि इतना शोर मचाने के बदले यदि वे उन से कह देते तो वे पलक झपकते सब ठीक करवा देते। वे चाहे जनरल-मैनेजर सही, पर हैं तो क्लर्क ही—ज़रा ऊँचे दर्जे के क्लर्क सही (वे ज़रा हँसे) इसलिए उन्हें मैनेजिंग-डायरेक्टर के फ़ायदे से मुलाज़िमों का फ़ायदा कहीं ज़्यादा प्यारा है।

इस मरहले पर हरीश जी बोले :

"अच्छी बात है, मैं कल उन से बात करूँगा। फिर हमारा प्रतिनिधि-मण्डल उन से मिल लेगा। मैं ज़रा जान लूँ कि वे हमारी माँगों को कहाँ तक मान सकते हैं। किन को मान सकते हैं और किन को नहीं मान सकते।"

इस पर कई मज़दूरों ने 'ठीक है,' 'ठीक है' कह कर उनका समर्थन किया।

बाबू रामसहाई ने जैसे बड़े आश्चर्य से हरीश जी की ओर देखा, फिर बोले, "आप कौन हैं ? आप तो हमारी कम्पनी में नहीं हैं !"

"मैं यूनियन का सेक्रेट्री हूँ !"

"मैनेजिंग-डायरेक्टर आप से बात नहीं कर सकते। वे अपने मुलाज़िमों से बड़े शौक से बात करने को तैयार हैं। उनकी माँगें पूरी करने को तैयार हैं। पर वे किसी बाहर वाले से बात करने को कभी तैयार न होंगे।"

"इन लोगों से वे क्या बात करेंगे ?" हरीश जी ने मुस्करा कर कहा, इन"
को बड़ी आसानी से डरा-धमका या फुसला लेंगे। बात उन से मैं ही करूँगा। मैं भी इन्हीं का प्रतिनिधि हूँ। इन्हीं द्वारा चुना मन्त्री हूँ।"

"आप घबराइए नहीं," नूर ने मूँछों पर ताव देते हुए कहा, "मैं कल उन से मिलूँगा। आप मेरे साथ कर दीजिए जिसे करना हो।"

"तुम्हें क्या मालूम है हाकिम से बात कैसे की जाती है," कलुआ बोला, "हमारी ओर से हरीश बाबू ही जायेंगे।"

"चुप रह ओए वड्डे चतुर देआ पुत्तरा।" नूरे ने तिनक कर कहा, "चौकीदारी करदेआँ ते हाकिम नूँ सलामाँ देंदियाँ तेरी सारी उमर बीत जाणी ऐं। तूँ अपने जेहा ही सब नूँ समझदा एँ। असाँ किसे सामने झुकना नईं जाणदे। गल्ल करन च मुश्किल केहड़ी ऐ। हाकिम ऐ कि भूत ऐ!"[1]

"नहीं, यह बात नहीं," हरीश ने कहा, "उस में कई तरह की कानूनी बातें हैं। तुम भी हमारे साथ चलना। लेकिन मुनासिब यही है कि यूनियन का सेक्रेट्री ही उनसे बात करे।"

"चोपड़ा साहब किसी बाहर वाले से बात न करेंगे और न ही बाहर की यूनियन को मानेंगे।" बाबू रामसहाई बोले।

"ते एहदे च केहड़ी गल्ल ऐ, मैं सेकट्री बन जाँदा हाँ," नूरे ने कहा और उसने मजदूरों को सम्बोधित किया, "क्यों वई, जेहड़े समझदे हण कि मैं सेकट्री वन के मालकाँ नाल गल्ल कराँ, ओह हत्थ खड़े करण।"[2]

सभी क्लर्कों और कुछ दूसरे मज़दूरों ने हाथ खड़े कर दिये।

---

१. चुप रह बे बड़े चतुर के बच्चे। चौकीदारी करते और हाकिम को सलामी देते तेरी सारी उम्र बीत जायगी। तू अपने-जैसा ही सब को समझता है। हम किसी के आगे झुकना नहीं जानते। बात करने में मुश्किल ही क्या है। हाकिम है या कोई भूत है!

२. तो इसमें क्या बात है, याने इसमें क्या मुश्किल है। मैं मन्त्री बन जाता हूँ। क्यों भई, जो समझते हैं कि मैं मन्त्री बन कर मालिक से बात करूँ, वे हाथ खड़े करें।

"इह समझ लओ कि मालक सिर्फ़ मेरे नाल गल्ल करण नूँ तैयार हण, ते मैं तुहाडियाँ सारियाँ माँगाँ पूरियाँ करा देणियाँ हण, ते बाहर वाली यूनियन नूँ मालक मनन नईं लग्गे।"[३]

कुछ और हाथ खड़े हो गये।

"हम हरीश जी को ही सेक्ट्री चाहते हैं।" कलुआ ने उठ कर कहा, "यह मालिक से बात करने गया और कहीं शराबख़ाने में जा कर सो गया तो हमारी सुध कौन लेगा।"

"अरे भाई जल्दी क्या है।" हरीश ने दोनों पक्षों में बीच-बचाव करते हुए कहा, "हम कल वर्कर्ज़ की एक ख़ास मीटिंग बुलाते हैं। इस बात पर हम उस मीटिंग में सोच-विचार कर फ़ैसला कर लेंगे।"

लेकिन नूरे के सिर पर कलुआ की बात से जैसे भूत सवार हो गया था। हाथ को ऊपर उठा कर उस ने कहा कि जो उस की लीडरी मानता हो, उस की यूनियन में आना चाहता हो, वह उस के साथ आ जाय। वह दिखा देगा कि वह हाकिम से अपनी बात मनवाता है या हरीश बाबू!

और बाबू रामसहाई और दूसरे क्लर्क ही उस के साथ न उतरे, बल्कि बहुत से मज़दूरों को भी ले गये।

"आप फिकिर न करें बाबूजी, हम आपके साथ हैं और रहेंगे।" कलुआ ने सीने पर घूंसा मारते हुए कहा।

हरीश ने कलुआ की बात का उत्तर न दिया। वे देर तक उस दरवाज़े की ओर देखते रहे, जहाँ से वे लोग निकल कर गये थे।

ग्यारह

जगमोहन सुबह-सुबह सैर से आया और उसने लस्सी के लिए दही का दोना भाभी को दिया तो उस की भाभी ने कहा, "अभी सत्या आयी थी।"

---

३. यह समझ लो कि मालिक सिर्फ़ मेरे साथ बात करने को तैयार हैं। मैं आपकी सब माँगें पूरी करा दूँगा। बाहर वाली यूनियन को मालिक तसलीम नहीं करेंगे।

"मैंने तो उस से कहा था कि वह यहाँ न आया करे!" जगमोहन ने झुँझला कर कहा।

"मैं तो जब से आयी हूँ, उस की सूरत तक नहीं देखी," भाभी बोली, "अभी आयी थी और कहती थी, सात-आठ दिन में उस की शादी होने वाली है।"

जगमोहन ने कुछ उत्तर न दिया और मौन रूप से ऊपर अपने कमरे की ओर बढ़ा। सीढ़ियों से उस ने भाभी की आवाज़ सुनी, "अभी वह फिर आयेगी।"

जगमोहन अपने कमरे में चला गया। पानी की बाल्टी भर कर उस ने स्नान किया, कपड़े बदले और ऊपर से आवाज़ दी, "भाभी, मुझे लस्सी बना दो।" और जा कर चारपाई पर लेट गया। लेकिन लेटने से पहले उस ने ताल्स्ताय का उपन्यास 'अन्ना केरिनीना' उठा लिया और जहाँ से छोड़ा था, वहीं से पढ़ने लगा।

भाभी ने लस्सी का गिलास ला कर उसे देते हुए सत्या जी की बात चलायी, "क्यों जगमोहन, तुम ने क्या सत्या को मना कर दिया है, वह कहीं दूसरी जगह क्यों शादी कर रही है। तुम को तो वह पसन्द थी ना, क्यों नहीं तुमने उस से शादी कर ली?"

जगमोहन ने कोई उत्तर नहीं दिया। उदास-सी मुस्कान उस के होंटों पर फैल गयी।

भाभी फिर बोली, "तुम्हारा मन होता तो मैं तुम्हारे भाई साहब को मना लेती, तुम ने मुझ से कहा क्यों नहीं?"

जगमोहन की मुस्कान थोड़ी-सी मुखर हुई, "अपना तो खर्च मुझ से उठाया नहीं जाता और मैं शादी कर लूँ!"

"सत्या पर तुम्हें क्या ख़र्च करना पड़ता? उल्टे वह तुम्हारा ख़र्च बटाती। वह तो सोन-चिड़ी है।"

"पर वह सोने की चिड़िया, सोने का पिंजरा भी तो हो सकती है!" जगमोहन ने कहा, "मेरी संगिनी ही कमाये और मैं अपनी ज़रूरतों के लिए उसी का मोहताज रहूँ, यह मुझे स्वीकार नहीं।"

"पर तुम भी तो कमाते।"

"मैं सत्या से शादी नहीं कर सकता भाभी।" जगमोहन बोला, "तुम ग़लत समझती हो। मेरी आर्थिक दशा क्या शादी के अनुकूल है? चालिस-पचास की नौकरी मिली भी तो उस से क्या बनता है? उस का वेतन भी कौन सौ-दो सौ है। मैं अभी कुछ पढ़ना और सीखना चाहता हूँ। क्लर्की की चक्की में पिस कर ख़त्म होना मुझे पसन्द नहीं।"

और वह एक ही साँस में लस्सी पी गया।

ख़ाली गिलास ले कर जब भाभी चली गयी तो जगमोहन मन-ही-मन हँसा। क्या उस ने जो कहा है, वह ठीक था? क्या आर्थिक कठिनाई ही उस के रास्ते की सब से बड़ी दीवार थी? कल यदि दुरो उस से विवाह का प्रस्ताव करे तो क्या वह आर्थिक कठिनाई का बहाना बनाये? दिशाओं के बन्धन को तोड़ कर हहराने वाले तूफ़ान-सा वह उठे और आर्थिक कठिनाइयों के तृण-पात को अपने साथ उड़ाता ले जाय!....जगमोहन बेचैन-सा कमरे में घूमने लगा....दरवाज़े से दीवार तक, दीवार से फिर दरवाज़े तक।

सहसा दीवार के पास पहुँच कर उस ने सिर को झटका दिया। हटाओ जी, जिस गाँव जाना नहीं, उसकी सोच काहे करना! और उस के जी में आयी कि चले कुछ समय चातक जी के यहाँ गुज़ारे और उन की कविताओं में दिमाग़ की इस परेशानी को भुला दे! वह मुड़ा कि उस ने देखा सत्या जी सामने चौखट में खड़ी हैं। जगमोहन न चाहता था कि उस की आँखों में आक्रोश आये, पर उस सब के बाद, जो सत्या जी और उस में घटा था, उन के इस आगमन पर आक्रोश की उस क्षीण-सी रेखा का उस की आँखों में आ जाना स्वाभाविक था, अनिवार्य था, इसलिए वह रेखा अपने-आप, अनजाने, अनपेक्ष उस की आँखों में आ गयी।

सत्या जी के मुख का रंग उस दृष्टि के परस से एकदम सफ़ेद हो गया। फिर उन के मुख पर शिशिर के सूरज की-सी मुस्कान छा गयी। दो पग वे आगे बढ़ आयीं, तब जगमोहन सम्हला। कुर्सी घसीट कर उस ने आगे रखी, "आइए, आइए बैठिए!" उस ने बढ़ कर कहा। और उन के बैठ जाने पर स्वयं भी बैठ गया।

०

सत्या जी उस दिन दस-बारह घण्टे बैठीं। जगमोहन ने उन्हें जाने को नहीं कहा। वह एक बार फिर पहले की तरह उन के लिए लस्सी बनाने को दही लाया; खाना भी उस ने उन्हें वहीं खिलाया; वह उन से बातें भी करता रहा; किन्तु उस अंतर को, जो उस ने उन में और अपने-आप में पैदा कर लिया था, उस ने रंच-मात्र भी कम न होने दिया।

वे चली गयीं और वह उन्हें होतूसिंह रोड तक छोड़ आया, तो सहसा उसका मन भारी हो गया। उसे लगा कि उसके व्यवहार में कहीं फूहड़ता थी; कि उसे उन से वैसा व्यवहार न करना चाहिए था; कि उसे उतना निर्मम न होना चाहिए था। वह मुक्त हो गया है, वे उसे अपने साथ विवाह के बन्धन में बाँधने की सारी कोशिशों, समस्त सूक्ष्म प्रयत्नों के बावजूद सफल नहीं हो सकीं, वह नहीं बहा, नहीं झुका, इस बात की उसे ख़ुशी थी। वह आश्वस्त था। पर जैसे झड़ी के बरसते पानी में रसोईघरों का धुआँ, आकाश के विस्तार में खो जाने के बदले, धीरे-धीरे बरसती बूँदियों में दबा-दबा अपनी जगह बनाता, रींगता हुआ-सा बढ़ता है; जगमोहन के उस उल्लास, उस आश्वासन, उस मुक्ति के आभास के नीचे अपनी फूहड़ता, अपनी निर्ममता, अपने असंस्कृत व्यवहार का विचार, धीरे-धीरे रींगता हुआ उस के दिमाग़ पर छाने लगा।

सत्या जी वास्तव में एक और कोशिश कर देखने आयी थीं, पर वह तो पहले ही से सतर्क बैठा था, इसलिए उन के सब पैंतरे बेकार गये थे।....पर क्या वे पैंतरे थे? उस ने सोचा....क्या वह सब डूबते हुए आदमी का किनारे के लिए छटपटाना-भर न था? और जगमोहन का दिल डूबने-सा लगा। बोझ की वह अनुभूति कई गुना ज़्यादा हो कर उस की आत्मा को दबाने लगी।

०

....कुर्सी पर बैठते ही हँसते-हँसते सत्या जी ने बताया था कि उन्होंने उस की बात मान ली है। उन की सगाई हो गयी है।

"पर इतनी जल्दी?" उस ने चकित हो कर पूछा था।

"आप ने कहा जो था।" वे बोलीं।

जगमोहन क्षण-भर चुप रहा। फिर उस ने पूछा, "कहाँ हुई सगाई?"

"अफ़रीका।"

"अफ़रीका !" जगमोहन के स्वर में आश्चर्य की मात्रा और भी अधिक थी, "वहाँ कैसे तय हो गयी इतनी जल्दी ?"

"वे यहाँ आये हुए हैं ।"

"इसी ग़रज़ से ?"

"हाँ ।"

"आते ही सफलता मिली उन्हें !"

"सफलता पाये बिना वे जाते जो नहीं !"

"आपका पता कैसे पा गये ?"

"ट्रिब्यून में विज्ञापन दिया था उन्होंने । पिता जी उन से मिले थे । दो-एक दिन से पूछ भी रहे थे । मैं चाहती न थी । आप ने कहा तो मैंने हाँ कर दी ।"

उन के स्वर में कुछ ऐसा था जो उसके हृदय में दूर तक उतरता चला गया । वह खिन्नता से हँसा, "पर मैंने अफ़रीका शादी करने के लिए कब कहा था ?"

"अफ़रीका क्या और अमरीका क्या !" उन्होंने हल्की-सी लम्बी साँस भर कर कहा था, जब यहाँ नहीं रहना तो सब जगहें बराबर हैं ।"

जगमोहन के कण्ठ में कुछ गोला-सा उठा था, पर उसे दबाता हुआ वह खोखली हँसी हँसा । "हाँ, हाँ, आप ठीक कहती हैं ।" उस ने कहा और यों हँसी के इस आवरण से उस ने अपने हृदय को भीगने से बचा लिया ।

०

....फिर सत्या जी ने वैसे ही अवसाद-भरे स्वर में हँसते-हँसते बताया था कि उन्होंने अपने होने वाले पति को देखा भी नहीं ।

"पर क्यों ?" जगमोहन ने पूछा था ।

"क्या लाभ ?" उन्होंने थके उदास स्वर में उत्तर दिया ।

तब वह क्या कहे, जगमोहन तय न कर पाया । "आप को देख अवश्य लेना चाहिए था !" उस ने योंही कहा ।

"क्या लाभ ?" सत्या जी ने वैसे ही अनमने भाव से दोहरा दिया और जगमोहन के हृदय में एक और कचोका लगा ।

"आप देख आइए !" कुछ क्षण बाद सत्या जी ने कहा था, "मुझसे नहीं बनता ।"

उन्होंने भी आप को नहीं देखा ?" उत्तर न दे कर जगमोहन ने पूछा ।

"नहीं, उन्होंने शायद मुझे देख कर ही हाँ की है ।" सत्या जी बोलीं, "खादी भण्डार में पिता जी मुझे सामान खरीदने के बहाने ले गये थे । वहीं मेजर साहब भी थे । मुझे पिताजी ने संकेत भी किया, पर मेरी तो आँखें नहीं उठीं ।"

"लेकिन आप की चाची अथवा दुरो ने तो उन्हें देखा ही होगा । दुरो भी गयी थी ?"

"उन्हें तो कुछ बहुत अच्छे नहीं लगे । वे तो कहती हैं कि उम्र ज़्यादा है, बहुत मोटे हैं, शायद किसी आँख में भी दोष हो । गहरा चश्मा पहने थे ।" और फिर बड़े अनुरोध-भरे स्वर में उन्होंने जगमोहन से कहा, "आप देख आइए !"

निमिष-भर के लिए जगमोहन ने सोचा—वह जाय, देख आये ! पर दूसरे क्षण उसे ख़याल आया कि यदि अफ़रीका से विवाह हेतु आने वाला वह व्यक्ति मोटा, भद्दा, कुरूप भी हुआ तो क्या होगा ? वह क्या कर सकता है ? सत्या जी तो अपने होने वाले पति के भद्देपन की बात जानती ही हैं ! फिर उसे देखने जाने का लाभ ? सहसा उस ने कहा :

"पर सगाई तो आप की हो गयी ।"

"नहीं, यदि पिता जी से मैं कह दूँ तो टूट भी सकती है ।"

"तो कह दीजिए !"

"आप देख आइए एक बार ।"

जगमोहन चुप रहा ।

"पिता जी कहते थे कि यदि तुम किसी दूसरी जगह चाहो तो वहाँ कर दें । प्रो० स्वरूप ने दो हज़ार रुपये दे दिये हैं । पिता जी ने वे शादी के लिए अलग रख दिये हैं ।"

जगमोहन चुप रहा ।

"अब तो यहाँ शादी हो ही रही है," सत्या जी ने कहा, "ये लोग बड़े धनी हैं, पर यदि मैं कहीं दूसरी जगह शादी करूँ, तो पिता जी मुझे दो हज़ार नकद भी देने को तैयार हैं ।"

जगमोहन चुप रहा। दो हज़ार की रकम उस के लिए बड़ी थी। पर किस कीमत पर....कल्पना-मात्र से उसके शरीर में झुरझुरी-सी दौड़ गयी।

"आप एक बार ज़रा देख आइए!"

"देखिए सत्या जी," सहसा जगमोहन बोला, "मैंने आप से यह नहीं कहा कि आप जा कर कुएँ में छलाँग मार दीजिए। मैंने आप ही के हित के लिए कहा था। आप मेरा खयाल छोड़, अपने जीवन को सफल बनाइए। आप को यहाँ पसन्द नहीं तो इस रिश्ते को छोड़ दीजिए। इत्मीनान के साथ अपना जीवन-साथी चुनिए।"

सत्या जी ने जैसे यह सब नहीं सुना। "आप एक बार देख तो आइए!" उन्होंने फिर अनुरोध किया।

जगमोहन समझ गया। सत्या जी जिस से शादी करने जा रही हैं, शायद वह बड़ा कुरूप है। सत्या जी को पूरा विश्वास है कि जगमोहन उसे देखेगा तो उन से अनुरोध करेगा कि वहाँ शादी न करें और वह अंतर, जो दोनों के मध्य आ गया है, अपनत्व-भरे उस अनुरोध के बाद धीरे-धीरे मिट जायगा—न, वह ऐसा नहीं करेगा।....वह चुप बैठा रहा। तभी उस ने सोचा, शायद सत्या जी ने निराशा-जनित क्रोध के आवेग में अपने पिता को वहाँ शादी करने की अनुमति दे दी है और अब उस बन्धन से निकलना चाहती हैं। क्यों न वह उन के भावी पति को देख आये और उन्हें उस बन्धन से मुक्त होने में सहायता दे....लेकिन उन्हें उस बन्धन से निकालने का मतलब—विशेषकर उस के लिए—स्वयं उस में फँसना था!....न, वह यह नहीं कर सकता।....वह चुप बैठा रहा। फिर उस ने सिर्फ़ इतना कहा, "मैं जा कर क्या करूँगा। जब दुरो कहती है कि ठीक नहीं, तब आप क्यों कर रही हैं? छोड़ दीजिए, यों आत्महत्या करने से लाभ?"

"कर पाती तो अच्छा होता," सत्या जी ने कहा, "वही तो नहीं कर सकी।"

और उन्होंने बताया कि किस प्रकार पिछली शाम वे रावी पर गयी थीं। रावी का पानी, जो सर्दियों में एक क्षीण-सी रेखा में, मरियल साँप-सा लेटा रहता है, शेषनाग-सा फुफकारें मार रहा था। वे पुल पर इधर से उधर दो-तीन बार गयीं। पानी का बहाव इतना प्रबल था कि पुल काँप रहा था। वे कूद पातीं तो

सब परेशानियों, लांछनों, कलंकों से सदा के लिए निष्कृति पा लेतीं। लेकिन चढ़ी हुई रावी को देखने इतने लोग गये हुए थे कि उन्हें साहस नहीं हुआ। एक बार वे बढ़ीं तो एक आदमी ने खींच कर उन्हें परे हटा दिया कि गिर जाओगी बहन, दूर से देखो! फिर जब उन्होंने कोशिश की तो पानी की लहरें जैसे उछल कर उन्हें पीछे फेंकने को बढ़ीं—उन्हें लगा कि वे कूदीं तो शायद लहरें उठा कर उन्हें बाहर पटक देंगी....और सत्या जी जैसे गयी थीं, चुपचाप चली आयीं।....वे मुक्ति चाहती हैं, पर शायद उन की किस्मत में इसी तरह घिसटना लिखा है.... सो वे अपनी नियति से न लड़ेंगी....यदि उन के भाग्य में अफ़रीका ही जाना लिखा है तो जायँगी।

जगमोहन के हृदय में फिर दूर तक कुछ धँसता चला गया। पर उस 'कुछ' को हृदय में पैठने का अवसर उस ने नहीं दिया....''मुझे आप से हमदर्दी है,'' उस ने कहा, ''मैं आप की इज़्ज़त भी करता हूँ। पर हम मिल कर सफल जीवन न बिता सकेंगे, इस का मुझे पूरा विश्वास है। आप मेरा ख़याल छोड़ दीजिए। मैं नहीं कहता, आप यहीं शादी कीजिए। पर यदि आप करें तो उसे सफल बनाइए!''

....और उस ने आन्तरिक सौन्दर्य पर एक छोटा-मोटा भाषण दे डाला। वह क्या बक रहा है, वह स्वयं न समझता था, पर वह चुप रह कर हारना न चाहता था। वह उदासी, जो सत्या जी की कर्कश आकृति को विचित्र प्रकार से दयनीय बनाये हुए थी; वह अवसाद, जो उन के स्वर को कुछ अजीब-सी नुकीली आर्द्रता दे रहा था, जगमोहन के सयत्न कठोर बनाये हुए हृदय को छेदे जा रहा था। वह छिदा कि ख़त्म हुआ!....और वह बके जा रहा था और इस प्रयास से उस नश्तर को अपने हृदय पर प्रहार करने से रोक रहा था।

''जो बाहर से सुन्दर लगते हैं, वे अन्दर से कितने कुरूप हो सकते हैं, सत्या जी, यह आप नहीं जानतीं,'' वह कह रहा था, ''और बाहर से उतने सुन्दर न दिखायी देने वालों के वक्ष में प्रायः सोने का हृदय होता है। अपने रूप की बदौलत नहीं, उस हृदय के सौंदर्य की बदौलत वे अपने संगी का मन जीत लेते हैं। मैं न विद्वान हूँ, न उपदेशक, पर मैं आप से यही कहूँगा कि आप यदि वहीं विवाह करने जा रही हैं तो अपने पति को अपनी पूरी वफ़ादारी दीजिए! मुझे

आशा है, आप का जीवन सफल होगा और कभी यह ख़याल भी न रहेगा कि आप ने मुझ-जैसे निकम्मे, बेकार और अयोग्य व्यक्ति का संग चाहा था।"

सत्या जी की दृष्टि निरन्तर उस पर जमी थी, उन की आँखें सजल हो गयी थीं और दरवाज़े के प्रकाश में चमक उठी थीं। सहसा जगमोहन की दृष्टि उन चमकती पनियारी आँखों पर गयी और अपनी वक्तृता का क्रम वह भूल गया और सहसा रुक गया।

वे कुछ आगे झुकीं, "बहुत देर से बैठी हूँ," उन्होंने कहा, "अब जाऊँगी! सारा दिन मैंने यहाँ बिता दिया।"

लेकिन वे उठीं नहीं। पूर्ववत् बैठी रहीं। फिर ज़रा और आगे झुक कर और पानी से झिलमिल आँखों से उस की ओर देखते हुए और भी धीमे, आर्द्र स्वर में उन्होंने कहा, "अच्छा आप मेरी एक बात मानेंगे?"

जगमोहन ने आँखें उठायीं।

"मेरी शादी पर आयेंगे?"

जगमोहन की दृष्टि उन से मिली। उसे लगा कि यदि वह कुछ चण और उसी स्थिति में बैठा रहा तो अपने-आप को संयत न रख पायेगा। ज़रा भी लड़खड़ाया कि बह जायगा, फिर वह कुछ न कर पायेगा। और वह उठा और कमरे में घूमने लगा और चुप रहने के बदले बोलने लगा।

"यदि मैं कहूँ कि मैं आप की शादी में शामिल होना चाहता हूँ तो ग़लत न होगा," उस ने कहा, "पर मैं हूँगा नहीं। मैं नहीं चाहता कि पिछला कोई तार आप को बाँधे रखे। आप अपने विगत से अपने-आपको एकदम तोड़ कर नयी धरती पर अपने पाँव जमाइए, बढ़िए, फूलिए, फलिए! आप का जीवन सुखी हो, इस की मैं कामना करता हूँ! मैं आप की शादी में शामिल न हूँगा; न आपसे मिलूँगा; आप भी अब मुझ से न मिलिए, न पत्र लिखिए। तभी आप सुखी हो सकेंगी।"

सत्या जी उठी थीं। जगमोहन के जी में आया, वह उन से अपने इस फूहड़-पने के लिए माफ़ी माँग ले, पर उस ने कुछ नहीं कहा। वह उन्हें सीढ़ियों तक छोड़ने गया। भाभी रसोईघर में न थीं, सत्या जी ने उन से मिलना ज़रूरी नहीं समझा। नीचे जा कर उन्होंने कहा, "अब आप जाइए। मेरी कोई ग़लती हो तो

माफ़ कर दीजिएगा।"

तब फिर जगमोहन के मन में आया कि अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँगे, पर क्षमा माँगने के बदले उस ने कहा, "चलिए मैं होतूसिंह रोड तक आप को छोड़ आता हूँ।"

०

अपने कमरे में पहुँच कर उस का मन और भी भारी हो गया। अपने इस फूहड़-पने के लिए उसे उन से क्षमा माँग लेनी चाहिए थी—बार-बार यही विचार उस के मन में आता—वह कमरे से बाहर छत पर आ गया। बाहर मालिक-मकान सूट-बूट पहन कर कहीं जाने को प्रस्तुत थे।

"किधर चल दिये बाबूजी?" उस ने योंही पूछा।

"मोरी दरवाज़े जलसा हो रहा है न बूचड़ख़ाने के ख़िलाफ़।" बाबूजी ने कहा और फिर मकान की ओर देख कर उन्होंने अपनी पत्नी और पुत्री को जल्दी आने का आदेश दिया।

तब जगमोहन को ख़याल आया कि उसे जल्दी तैयार हो कर चल देना चाहिए। बूचड़ख़ाना-आन्दोलन के सिलसिले में मोरी दरवाज़े के बाहर बड़ी भारी मीटिंग होने जा रही थी। हरीश और दुरो तो उस में व्यस्त होंगे, उसे समय से कमर्शल बिल्डिंग्ज़ पहुँचना चाहिए, ताकि यदि कोई साँझ के स्कूल में पढ़ने आये तो निराश वापस न जाय।

वह नहा-धो कर तैयार हुआ, पर जब नीचे उतरा तो उस ने सोचा कि सीधे कमर्शल बिल्डिंग्ज़ पहुँचने के बदले वह पहले मोरी दरवाज़े जाय, कुछ क्षण जलसे का रंग-ढंग देखे, फिर अनारकली की सैर करता कमर्शल बिल्डिंग्ज़ पहुँचे। समय अभी काफ़ी था, इसलिए वह घोड़ा अस्पताल की ओर चल दिया।

जगमोहन कमर्शल बिल्डिंग्ज़ पहुँचा तो उसे भय था कि शायद उसे बहुत देर हो गयी, लेकिन जब हॉल में उसे कोई भी दिखायी न दिया तो उस ने सुख की साँस ली।

जहाँ तक 'येलो-बस-सर्विस-यूनियन' के उस आन्दोलन का सम्बन्ध है, जगमोहन की स्थिति एक दर्शक की-सी थी। राजनीति और समाज-शास्त्र के उस विशाल सागर के किनारे घुटनों तक पानी में खड़े उस व्यक्ति-सा वह लहरों को

निरख रहा था, जो अपनी उदासी के क्षणों में तैरना तो चाहे, पर जिसे लहरों की गति-विधि और उन में तैरने की कला का कुछ भी ज्ञान न हो।

दुरो के कहने पर वह साँझ के स्कूल में पढ़ाने भी लगा था, हरीश के साथ कमकरों के घरों में जाने और उन की सभाओं में भाग भी लेने लगा था, पर उस की वह सब सरगर्मी उस समय अपनी कटु आर्थिक-स्थिति, शिक्षा-प्राप्ति के मार्ग की बाधाओं, प्रोफ़ेसर बैजनाथ और उन की श्रीमती के दुर्व्यवहार और सत्या जी की पहुँच से उस के पलायन के फलस्वरूप ही थी। पर वह पानी में मौन-रूप से खड़ा केवल लहरों के दोलन-प्रदोलन ही को न देखना चाहता था, उन के सीने पर तैरना भी चाहता था। इन कुछ दिनों में दुरो और हरीश से उस ने जो थोड़ा-बहुत सीखा था, उसी को तिरैरी बनाये वह तैरने का प्रयास कर रहा था।

धीरे-धीरे वह समझने लगा था कि पूँजी की भूख भोजन पाने पर मिटने के बदले कैसे और बढ़ती है। उस का घेरा नीचे से ऊपर को जाते हुए मिस्र के पिरामिडों की भाँति संकुचित से संकुचिततर होता रहता है। क्यों कुछेक को समस्त सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं और क्यों शेष सब कल्पनातीत अभाव में पलते हैं? क्यों कुछ के लिए शिक्षा-संस्कृति के मार्ग प्रशस्त हैं और क्यों शेष को पग-पग पर दुर्गम कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है? ग़रीबी और अमीरी में क्यों इतना महान अंतर है? यह सब धीरे-धीरे उसकी समझ में आने लगा था। स्पष्ट रूप से नहीं, पर इस समस्या के समाधान का आभास कुछ अस्पष्ट-सा, धुंधला-सा उसे मिलने लगा था और हरीश, दुरो और उस आन्दोलन में उस की दिलचस्पी उत्तरोत्तर बढ़ने लगी थी। इसीलिए वह नियमित रूप से साँझ के स्कूल में आने लगा था। वह पढ़ाता था, पर पढ़ता भी था।

जहाँ तक उस से पढ़ने वालों का सम्बन्ध है, उन में कोई ऐसा उत्साह न था जो उसका साहस बढ़ाता—इतने दिन से वह पढ़ाने आ रहा था, पर उस के प्रौढ़ विद्यार्थियों की संख्या कभी आठ-दस से अधिक न बढ़ी थी। अपने थके-हारे अंगों को किसी शराबख़ाने अथवा सिनेमाघर में आराम देना मज़दूरों को उस स्कूल में आने से कहीं अच्छा लगता था। नये-नये पढ़ने वाले आते रहते थे। पर पढ़ने की साध के बदले कुछ तमाशा देखने की भावना उन में अधिक होती।

"आ गये बाबूजी ? हम ने तो समझा कि आज हमीं अपने को पढ़ायेंगे। न बहन जी आयीं, न आप ।"

जगमोहन अपने विचारों में मग्न कोने की मेज़ पर रखी पत्र-पत्रिकाओं को उलट रहा था कि बाहर बारजे से कलुआ की आवाज़ आयी।

"रास्ते में कांग्रेस की सभा हो रही थी; उसी में देर हो गयी कलुआ," जगमोहन ने कहा, "हरीश जी और दुरो वहीं है। उस के प्रबन्ध में लगे हैं, खत्म होते ही आयेंगे।"

साँझ के स्कूल में आने वालों में कम्पनी के चौकीदार कलुआ से जगमोहन को विशेष स्नेह हो गया था। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, उस के लिए काला अक्षर भैंस बराबर था। आठ-दस दिन जगमोहन को उसे पढ़ाते हुए हो गये थे, पर अभी तक वह 'अ आ, इ ई' भी याद न कर सका था, लिखने की तो बात ही दूर रही! जब पूरे एक सप्ताह की माथापच्ची के बाद उस ने 'अ' की जगह 'इ' और 'इ' की जगह 'उ' पढ़ा तो जगमोहन झुँझला उठा। तब कलुआ बोला, "बाबू घबराओ नहीं, धीरे-धीरे आता है पढ़ना। बुड्ढे तोते जल्दी नहीं सीख सकते।"

जगमोहन की सारी झुँझलाहट शर्म के अहसास में बदल गयी। एक अजीब भोलापन उसे कलुआ की आँखों में दिखायी दिया। और उसने मन-ही-मन संतोष और सब्र से काम लेने की सौगन्ध खायी।

जहाँ तक लिखे हुए अक्षरों को स्वयं पढ़ने का सम्बन्ध है, कलुआ चाहे कन्नी काटता हो, पर जहाँ तक उन्हीं लिखे हुए अक्षरों को किसी दूसरे से सुनने का सम्बन्ध है, उस की भूख अमिट थी। उसने वर्णमाला चाहे याद न की हो, पर उन बातों को वह हृदयंगम कर लेता था, इस का पता जगमोहन को 'येलो-बस-यूनियन' के उस छोटे-से आन्दोलन में चल गया था। अपने सभी साथियों में वही था, जिस ने हरीश जी का साथ न छोड़ा था। उस समय जब 'येलो-बस-यूनियन' के सभी कर्मचारी नूरे की यूनियन में चले गये थे, कलुआ अपने चन्द साथियों के साथ बराबर आता था।

"तुम अकेले ही आज कैसे हो," जगमोहन ने कहा, "बाकी क्या जलसा देखने चले गये?"

"नहीं बाबूजी, इस जलसे के बदले तो वे सनीमा जाना अच्छा समझते। 'देवदास' लगा हुआ है निशात में, सब उसी के पीछे पागल हैं। लेकिन अब वे यहाँ न आयेंगे।"

"नूरे की यूनियन में चले गये?"

"बड़ा लालच दिया है बाबू रामसहाई ने।" कलुआ बोला, "जो माँगें हम ने भेजी थीं, वे सब मनीजर ने मंजूर कर ली हैं, नूरे को तरक्की दे दी है, पर आप देख लीजिएगा, कुछ दिन बाद एक-एक को निकाल बाहर करेंगे और किसी की सुनवाई न होगी। सब जबानी जमा-खर्च है, कहीं कोई लिखा-पढ़ी नहीं हुई। कुछ होने-जाने का नहीं वहाँ, यह आप पक्का समझिए।"

"तुम क्यों नहीं गये?" हँसते हुए जगमोहन ने कहा।

"हम तो बाबूजी, अब न जायेंगे। यों भी मर्द की जबान मर्द की जबान ही होती है। बाबू रामसहाई कहते थे कि वापस आ जाओगे तो तरक्की अलग मिलेगी और साहब अलग खुस होंगे। हमने कह दिया कि साहब चाहे खुस हों या नाखुस, हम वहाँ जाना नहीं छोड़ेंगे। ये सब लोग जो अब खुस हैं, साल-छै महीने के बाद घुटनों में सिर दे-दे कर रोयेंगे। नूरे की यूनियन कोई रजिस्टर तो हुई नहीं, नूरा उसका मन्त्री है और बाबू रामसहाई प्रधान। वह यूनियन तो जैसे चोपड़ा साहब की मुट्ठी में है, जब चाहें मसल दें।"

"अगर तुम्हें नौकरी से जवाब दे दें तो?" जगमोहन ने उस के दिल की थाह पाने को पूछा।

"अभी तो जल्दी हमें जवाब न देंगे, पर देंगे जरूर। हम ने भी तय कर लिया है कि हम नौकरी छोड़ देंगे, पर हरीश बाबू को दगा न देंगे। यहाँ नौकरी न रही तो कहीं और कर लेंगे। हमें कौन-सी लाटसाहबी करनी है। चौकीदार यहाँ हैं, चौकीदार वहाँ रहेंगे। हमें तो हरीश बाबू दो रोटी का आसरा दे दें तो हम कहीं और काम ही न करें।"

"मैं हरीश जी से कहूँगा," जगमोहन ने कहा, "तुम्हारे जैसा वर्कर तो कांग्रेस के लिए बड़े मोल का है। लेकिन आओ पहले कुछ पढ़-पढ़ा लें, फिर बातें करेंगे।"

और कलुआ ने बड़े शौक से किताब निकाल ली।

०

कलुआ अपना पाठ रट रहा था कि हरीश ने हॉल में प्रवेश किया। चौंक कर दोनों उठे। हरीश जी के पीछे दुरो भी थी।

"मीटिंग ख़त्म हो गयी ?" जगमोहन ने अपनी जगह हरीश जी के लिए छोड़ते हुए पूछा।

"मीटिंग तो अभी दो-एक घण्टे और चलेगी। दो-दिन से भाग-दौड़ कर रहा हूँ। पहले ही यूनियन के सम्बन्ध में थकावट कम न थी, सो मैं इतना थक गया कि श्याम पर सब-कुछ छोड़ कर चला आया।"

हरीश फिर हँसे और बोले, "यहाँ का क्या हाल-चाल है ? मालूम होता है, कलुआ के सिवाय और कोई नहीं आया।"

कलुआ ने वही बात दोहरा दी जो उस ने जगमोहन से कही थी।

"हमने ग़लती की," हरीश बोले, "नूरे जैसे आदमी को ले कर किसी यूनियन का संगठन करना ही मूर्खता थी। यह तो ठीक है, इससे शुरू-शुरू में सफलता मिली, लेकिन परिणाम हमारे सामने हैं। हमें पहले कमकरों को इन मामलों के बारे में पूरी तरह शिक्षित करना चाहिए था, फिर यूनियन संगठित करनी चाहिए थी। वैसी यूनियन को मालिकों की कोई भी चालबाज़ी न तोड़ सकती। ख़ैर !" उन्होंने लम्बी साँस भरते हुए कहा, "बड़ा कीमती तजरुबा हासिल हो गया।"

कुछ क्षण कमरे में निस्तब्धता रही, फिर हरीश ने कहा, "मैं सोचता हूँ, हमें यह दफ़्तर बन्द कर देना चाहिए। स्टडी-सरकल की बात है, सो वह अभी ग्वालमण्डी में चल सकता है। बड़ी सभाएँ करने के लिए इस हॉल का प्रबन्ध किया था, अब तो वैसी कोई ज़रूरत नहीं रही।"

"ठीक है। वहाँ लाइब्रेरी है और फिर साँझ के स्कूल में तो कलुआ भाई के सिवाय और कोई पढ़ने वाला भी अभी नहीं।" दुरो ने कहा।

"धीरे-धीरे सब आयेंगे दीदी," कलुआ बोला, "और अबके आयेंगे तो जायँगे नहीं।"

"ठीक कहते हो !" हरीश बोले, "जो सम्बन्ध हमने बनाये हैं, उन को तोड़ना न चाहिए। हमारी बात उन्होंने नहीं मानी तो कोई हर्ज नहीं। हमें सुख-दुख में

उन की ख़बर लेते रहना और सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए। और कुछ नहीं तो साँझ के स्कूल में अथवा स्टडी-सरकल में उन्हें लाते रहना चाहिए।"

और हरीश उठे।

तब कलुआ ने अपनी बात कही कि यदि उस की रोटी-रहाइश का प्रबन्ध हो जाय तो वह चोपड़ा साहब की ग़ुलामी छोड़ कर कांग्रेस की सेवा करे।

"इस से अच्छी बात और क्या हो सकती है," हरीश जी बोले, "लेकिन तुम्हारा वहाँ रहना बड़ा ज़रूरी है। तुम्हारे द्वारा ही तो हम दूसरे मज़दूरों से सम्बन्ध बनाये रख सकेंगे। बल्कि मैं तो तुम से यह कहूँगा कि तुम उन की यूनियन में भी शामिल हो जाओ और जब तुम्हारे मित्रों को निराशा हो—तो फिर उन्हें इसी रास्ते पर लाने की कोशिश करो।....मैं बहुत थक गया हूँ।" कुछ रुक कर उन्होंने कहा, "चाहता हूँ, जा कर आराम से लेट जाऊँ।"

जगमोहन ने देखा—दुरो बड़े ही स्नेह और सहानुभूति से हरीश के थके, पीले मुख को देख रही है।

कलुआ ने हॉल को ताला लगाया और चारों नीचे उतर आये। तब दुरो ने कहा, "आप बहुत काम करते हैं, कुछ आराम कीजिए। चलिए, मैं आपके सिर में ज़रा-सा तेल लगा दूँ।"

जगमोहन को लगा कि दुरो की आवाज़ में कुछ हकलाहट है। जैसे सीढ़ियाँ उतरती हुई वह यही एक वाक्य कहने के लिए साहस बटोरती आयी थी।

"अरे भाई यह आराम हमारी क़िस्मत में कहाँ!" हरीश हँसे, "मुझे तो अभी जा कर रिपोर्ट तैयार करनी है, बम्बई से बुलावा आया है, वहाँ मज़दूर कमकरों की कान्फ़्रेन्स हो रही है, जाने से पहले मुझे रिपोर्ट तैयार कर लेनी है।"

"तो भी थके हैं, आज आराम कीजिए। कल से फिर जुट जाइएगा।" हरीश चुप रहे। जाने उन का मन बम्बई की गोदियों में लथपथ मज़दूरों में लगा था, अथवा वे जूहू के विशाल रेतीले किनारे पर खड़े, दृष्टि की सीमा तक फैले सागर के नीले विस्तार को देख रहे थे।

"आप कब बम्बई जा रहे हैं?" दुरो ने पूछा। उस के स्वर में बराबर चिन्ता और हकलाहट थी।

"परसों चला जाऊँगा।" हरीश ने फिर कहा।

"यहाँ का काम...." दुरो ने कहना चाहा।

"श्याम है, तुम हो, दूसरे लोग हैं, कोई ऐसी बात न आ पड़ी तो हफ़्ते-दस दिन में आ जाऊँगा।"

और वे जगमोहन की ओर मुड़े, "तुम भी भाई, पढ़ाई से समय निकाल कर आते रहना।"

"मैं तो सारा वक्त काम करने को तैयार हूँ। पढ़ाई का ख़याल मैंने छोड़ दिया है।" जगमोहन ने कहा और चलते-चलते उस ने अपनी कठिनाइयाँ बतायीं।

"तुम ही अकेले नहीं हो," जगमोहन की बात सुन कर हरीश बोले, "इस देश में हज़ारों-लाखों ऐसे युवक हैं जिन्हें अपना रास्ता एकदम अंधकारमय दिखायी देता है। इन सब कठिनाइयों के स्रोत को ढूँढ़ पाना उन के बस की बात नहीं। वे समझते हैं कि उनकी किस्मत ख़राब है।—किस्मत—किस्मत—किस्मत! हमारे यहाँ किस्मत का अखण्ड राज्य है। कोई आदमी उच्च वर्ग में पैदा हुआ तो किस्मत वाला है; अच्छे दिमाग़ का मालिक है तो किस्मत वाला है; नौकरी मिल गयी तो किस्मत वाला है! और किस्मत उल्टी भी हो सकती है—आम हिन्दुस्तानी युवक को ज़िन्दगी बड़ा भारी जुआ दिखायी देती है।" हरीश किंचित् हँसे, "इस जुए में जीत-हार किस्मत के हाथ है। लेकिन तुम आते रहोगे तो जानोगे कि जिस तरह आदमी बड़ी-बड़ी नदियों को बाँध कर उनको सीधे, उपादेय मार्गों पर ले आया है, इसी तरह किस्मत के इस मुँह ज़ोर दरिया को भी उसने बाँध कर सीधे रास्ते लगा दिया है। कौमों ने अपनी किस्मतें आप बनायी हैं और हम भी अपनी इच्छा के अनुसार अपनी किस्मत को बनायेंगे।"

बातें करते हुए हरीश मार्केट तक आ गये थे। सहसा वे रुके। "अच्छा भाई, मैं तो चला।" उन्होंने जगमोहन से कहा, "तुम ज़रा दुरो को गोपालनगर तक पहुँचा देना।" फिर हाथों को माथे पर ले जाते हुए मुड़ कर कलुआ से बोले, "तुम तो कलुआ भाई, हमारी ओर ही रहते हो, चलो चलें मेक्लोड रोक तक साथ-साथ।"

"जी, जी।" कलुआ ने कहा और उनके साथ चलने को मुड़ा।

हरीश जी भी तेज़ी से मुड़े। दुरो कुछ क्षण खड़ी उन्हें देखती रही, फिर

पलटी और जगमोहन के साथ चुपचाप चलने लगी।

कुछ क्षण दोनों चुपचाप चलते रहे, फिर दुरो ने पूछा कि एम० ए० करने की अपेक्षा उस ने ट्रेनिंग क्यों नहीं ली। जगमोहन ने अपनी परिस्थिति बतायी कि क्यों उस ने पढ़ाई का खयाल छोड़ दिया।

"बिलकुल ठीक किया आपने," दुरो बोली, "आज के युग में प्रत्येक स्वाभिमानी भारतीय के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपनी सब आशाएँ छोड़, सब से पहले विदेशी ग़ुलामी से देश को आज़ाद करने के इस यज्ञ में आहुति दे। मैं भी शायद ट्रेनिंग न लेती, पर हिन्दुस्तान में स्त्रियों की दशा पुरुषों से भिन्न है। आप दिन-भर बेकार बाज़ारों की ख़ाक छानें, सिनेमा-तामाशा देखें, और रात को देर से घर जायें तो आप को कोई कुछ न कहेगा। मैं दिन-भर काम करती रहूँ और इसलिए देर से घर पहुँचूं तो बीस आदमी बीस नाम धरेंगे।" और दुरो ने अपने माता-पिता की मृत्यु से ले कर मौसी के पास आने और सुबह-शाम अनथक काम करके किसी तरह पढ़ने की सुविधा पाने की कहानी कह डाली।

"मेरे मौसा उम्र में इतने हैं जितने मेरे पिता आज होते," दुरो ने कहा, "वैसा ही स्नेह भी वे मुझ से करते हैं। मौसी उन के इस स्नेह को भी ईर्ष्या की दृष्टि से देखती हैं। घर में रहना मेरे लिए वबाल है। बी० ए० करके ट्रेनिंग करना इसीलिए मैंने ज़रूरी समझा कि मैं इस अपमान और ग़ुलामी से निष्कृति पा कर अपना पेट भर सकूं और अपना जीवन जी सकूं।"

एक आत्मीय सखा की तरह दुरो जगमोहन से अपनी ज़िन्दगी की कहानी कहती गयी और जगमोहन को लगा जैसे उन दोनों का जीवन एक-जैसा है। 'पर वे दोनों मिल कर इस जीवन को सफल और सुखद नहीं बना सकते'—उस ने मन-ही-मन सोचा—और उस के हृदय से एक लम्बी साँस निकल गयी।

"सत्या बहन कांग्रेस में काम करती रही हैं," दुरो फिर बोली, "देर-सबेर घर आती रही हैं, पर उन्हें कभी किसी ने कुछ नहीं कहा। अब उन्होंने अपनी शादी का फ़ैसला किया तो किसी ने आपत्ति नहीं की। उन्हें देखते हुए दूल्हा बड़ी उम्र का और ख़ासा कुरूप लगता है। पर वे चाहती हैं। अपनी मालिक आप हैं। कोई नहीं बोला। वे न अपने पिता पर बोझ हैं, न अपने चाचा पर। मेरी बात दूसरी है। मैं जब से कांग्रेस में काम करने लगी हूँ, बीस बातें मौसी

सुना चुकी हैं। मैं चुप रहती हूँ। यदि कहीं कह दूँ—मैं हरीश को चाहती हूँ—तो जाने क्या तूफ़ान खड़ा हो जाय! यह 'फ़ैज' ही ने लिखा है न—'इक ज़रा सब्र कि फ़रयाद के दिन थोड़े हैं!'—मैं जब घबराती हूँ तो यही पंक्ति दोहरा लेती हूँ।" और वह हँसी। लेकिन जगमोहन के हृदय से एक और लम्बी, गहरी साँस निकल गयी।

वे तेग़बहादुर रोड के नाके पर पहुँच गये थे। सहसा जगमोहन रुका। उसे ख़याल आया, कहीं अपनी ससुराल से आती-जाती सत्या जी आगे न मिल जायँ। उस दिन की घटना के बाद वह फिर उन से साक्षात्कार न करना चाहता था। "मैं यहीं से चलता हूँ," उस ने कहा, "मेरी भी दशा लगभग आप-जैसी है। मुझे भी समय से घर पहुँचना है।" और उस ने नमस्कार को हाथ उठाये।

दुरो ने नमस्कार का उत्तर दिया, फिर सहसा बोली, "आप सत्या बहन की शादी में नहीं आये?"

"भाभी की तबीयत ठीक न थी, इसलिए आ नहीं सका।" और वह मुड़ा, लेकिन मुड़ते हुए उस ने पूछा, "कैसी हुई शादी?"

दुरो ने कदम बढ़ा लिया था। रुक कर बोली, "सत्या बहन तो शोर मचाने के पक्ष में नहीं, बड़े सीधे-सादे तौर पर आर्य-समाजी ढंग से हो गयी। उन लोगों ने गहना-कपड़ा ख़ूब दिया। सत्या बहन ने खादी के कपड़े तज कर रेशमी साड़ियाँ पहन लीं।....क्यों उन्होंने वहाँ शादी करना स्वीकार कर लिया, यह मेरी समझ में नहीं आता।" फिर निमिष भर रुक कर दुरो ने कहा, "वे तो परसों चली जायँगी।"

"कहाँ?"

"अफ़रीका!"

जगमोहन पूछना चाहता था—'इतनी जल्दी?' पर उस ने कुछ नहीं कहा। एक बार फिर नमस्कार किया और तेज़-तेज़ मुड़ आया।

घर पहुँचा तो भाई और भाभी कदाचित् बच्चों को ले कर सिनेमा देखने चले गये थे। उस की मेज़ पर खाने की ढकी थाली के ऊपर एक बन्द लिफ़ाफ़ा पड़ा था। जगमोहन ने लिफ़ाफ़ा खोला। सत्या जी की ओर से पाँच-सात पंक्तियाँ थीं। कितनी देर तक वहीं खड़ा, जगमोहन उन पंक्तियों को बार-बार

पढ़ता रहा :

मोहन जी,

आप शादी पर नहीं आये। मैं क्या गिला करूँ ! आप ने मुझे वह अधिकार ही नहीं दिया। मैंने आपकी बात मान ली। मैं लाहौर ही से नहीं, हिन्दुस्तान से भी चली जाऊँगी। केवल एक प्रार्थना है, परसों शाम सवा-छै की गाड़ी से हम जा रहे हैं। आप स्टेशन पर केवल एक बार दर्शन दीजिए, फिर मैं जीवन-भर आप को कभी किसी बात के लिए तंग न करूँगी।

—स०

बारह

जगमोहन न रात ठीक तरह सो सका, न दिन-भर कोई काम ही कर सका। वह सत्या जी से मिलने स्टेशन पर जाय या न जाय, निरन्तर इसी एक समस्या पर विचार करता रहा। साँझ हो गयी थी जब उसने सहसा तय किया कि उसे अवश्य जाना चाहिए। गाड़ी के समय में अभी घण्टे-डेढ़-घण्टे की देर थी और ऋषिनगर से स्टेशन तक जाने ही में इतना वक्त लग सकता था। जल्दी-जल्दी हाथ-मुँह धो कर जगमोहन ने धोती-कुर्ता पहना और घर से निकल गया।

घोड़ा अस्पताल के पास उसे एक ताँगा मिल गया जो घासमण्डी तक जा रहा था और एक सवारी की पुकार कर रहा था। जगमोहन को डर था कि उसे घर से चलने में देर हो गयी है, जाने गाड़ी मिले न मिले। ताँगे वाले की आवाज़ सुन कर उसने उसे रोका उसकी अगली सीट पर जा बैठा और सुख की लम्बी साँस ली।

जगमोहन को जब सत्या जी की चिट्ठी मिली थी, उसी क्षण से पश्चात्ताप की एक विचित्र-सी भावना ने उसके हृदय को जकड़ लिया था। उसने सत्या जी से बड़ा क्रूर, रूखा, फूहड़ व्यवहार किया है, यही बात बार-बार उसके मन में आती थी। वह चाहे उनसे शादी न करता—वह सोचता—पर अपनी उस व्यर्थ

की अतिरिक्त और असाधारण सतर्कता से उनकी उस ज़रा-सी इच्छा को भी यों रद्द न कर देता।....यदि वह उन के विवाह में चला जाता तो कौन-सा प्रलय आ जाता ? क्या सत्या जी की शादी रुक जाती या वे बरबस उससे व्याह दी जातीं ? वह अपनी उस भीरुता पर स्वय ही व्यंग्य से हँसा—उसके उस व्यवहार से उन्हें कितनी तकलीफ़ हुई होगी, कितना मानसिक क्लेश हुआ होगा ?....और उस दिन जब सत्या जी अन्तिम बार उस से मिलने आयी थीं, उस दिन की उन की उदास आकृति, उन के स्वर की करुणा, उस करुणा में छिपी प्रार्थना—उन की बात-चीत, भाव-भंगिमा का हर एक ब्योरा जगमोहन के सामने घूम गया....एक लड़की उसे प्यार करती है; उस के लिए हर तरह की कुर्बानी करने को तैयार है; हर तरह की लांछना, निंदा, कलंक सहने को तैयार है—तो क्या उस से (वह उसे न भी प्यार करता हो) इतना भी नहीं हो सकता कि वह उस को सौहार्द्र दे सके, व्यर्थ ही उस का दिल न दुखाये, उस के घाव को गहरा न करे....और वह अधिक न सोच कर चला आया था ।

घासमण्डी पर ताँगा रुका तो इन्हीं विचारों में लीन, पैसे चुका कर, वह लोहारी दरवाज़े के बाहर ताँगों के अड्डे की ओर बढ़ा और यहाँ स्टेशन को जाने वाले एक ताँगें में बैठ गया ।

लाहौर के जीवन में रसी-बसी सत्या जी समुद्र-पार उस परदेस में कैसे रह पायेंगी ?—उस ने सोचा—वे रावी से कूद कर आत्महत्या चाहे न कर पायी हों, पर लाहौर के जीवन को सदा के लिए छोड़ कर उन्होंने एक तरह से आत्म-हत्या ही कर ली थी । उस अनजान देश में भटकती हुई उस तन्वी की आत्मा की कल्पना करके जगमोहन का दिल भर-सा आया । उसके हृदय से एक दीर्घ निश्वास निकल गया । तभी ताँगा स्टेशन के अड्डे पर जा रुका । जगमोहन की विचारधारा टूटी, वह उतरा और स्टेशन की ओर बढ़ा ।

किन्तु शीघ्र ही उसकी चाल धीमी हो गयी और सड़क पार करते-करते एक भारी संकोच ने उसे जकड़ लिया ।

'क्या वह सत्या जी से क्षमा माँगने का अवसर पा सकेगा ?'—अचानक उस ने सोचा—'उन के माता-पिता उन्हें छोड़ने आये होंगे । हो सकता है शुक्ला जी आदि भी आये हों । दुरो भी होगी । उन सब के सामने वह कहाँ वैसे एकांत के दो

क्षण पा सकेगा कि क्षमा-याचना कर सके।' अपनी उस भावुकता-जनित त्वरा पर उसे हँसी आ गयी। उस की चाल और भी धीमी हो गयी।

ज्यों-ज्यों वह स्टेशन की ओर बढ़ता गया, उस की विचारधारा त्वरितगति से उल्टी दिशा को भागती गयी। यद्यपि उस के हृदय के किसी गुह्यतम में अब भी सत्या जी से क्षमा माँगने की भावना वर्त्तमान थी, पर उसके औचित्य के सम्बन्ध में वह अब शंकित था।....यदि उसे अवसर मिल भी जाय तो क्या उसे सत्या जी से मिलना चाहिए ? उन से क्षमा माँगनी चाहिए ?....ठीक या ग़लत, उन्होंने विवाह कर लिया है। उन्हें अब अपने वैवाहिक जीवन को सफल बनाना चाहिए ! यदि उनका ध्यान उसी में लगा रहेगा अथवा उसकी ओर से उन्हें ज़रा भी आशा रहेगी अथवा उन्हें ख़याल रहेगा कि उसे अपने किये पर पश्चात्ताप है तो क्या वे परदेस के उस जीवन में सुख पा सकेंगी ? कुण्ठित हो कर सम्भव है भारत लौट आयें ! वह उन से कभी विवाह न कर सकेगा और ऐसी स्थिति में उन से स्टेशन पर मिलना उन के और उस के अपने साथ घोर अन्याय होगा !.... न, वह ऐसा न करेगा। वह वापस चला जायगा।

जगमोहन यही सब सोचते हुए सेकिंड-क्लास के टिकटघर से प्लैटफ़ार्म ले चुका था, पर प्लैटफ़ार्म ले कर वह आगे नहीं बढ़ा, पीछे को मुड़ आया। सत्या जी के ध्यान को अपनी ओर लगाये रखना न केवल उन के और उन के पति के साथ अन्याय है—उस ने सोचा—उस के अपने साथ भी है।....जब उन्होंने शादी कर ली तो फिर वे उस से क्यों मिलना चाहती हैं ? इस से क्या लाभ होगा ?.... और वह तेज़-तेज़ वापस मुड़ा। तभी बायीं ओर मेक्लोड रोड की ओर से उसे तीन-चार ताँगे आते दिखायी दिये। दूसरे ताँगे की पिछली सीट पर सत्या जी बैठी थीं। उनका ध्यान स्टेशन की ओर था। जगमोहन दायीं ओर के थर्ड-क्लास वेटिंग-रूम की चहारदीवारी के अन्दर सरक गया। लेकिन अन्दर जाने के बाद वह मुड़ा और गेट के एक ओर हो कर उन्हें देखने लगा। सत्या जी के साथ एक बड़ा मोटा आदमी बैठा था। जब सेकिंड-क्लास के पोर्च में ताँगे खड़े हुए तो सबसे अगले ताँगे से एक मोटी, दोहरी ठोड़ी वाली स्त्री और उसके साथ सत्या जी की माँ, दुरो और उसकी मौसी उतरीं, फिर सत्या जी और उनके पति। उस लम्बे-तगड़े आदमी के साथ खड़ी सत्या जी बड़ी ही छोटी लगती थीं। दूसरे दो ताँगों

पर सत्या जी के पिता तथा अन्य रिश्तेदार थे। सब से पिछले ताँगे से शुक्ला जी और चातक जी उतरे।

जगमोहन चहारदीवारी की ओट में खड़ा देखता रहा और जब वे सब लोग चले गये तो वह फिर स्टेशन की ओर चल पड़ा। सत्या जी एक बड़ी ही भड़कीली साड़ी पहने हुए थीं। उनके कानों में कर्णफूल; माथे पर चाँद और गले में रानीहार दूर से भी दिखायी देता था और वह जानता था कि सत्या जी भड़कीले कपड़ों और आभूषणों से घृणा करती थीं। वह धीरे-धीरे चला जा रहा था। मस्तिष्क उससे कह रहा था कि उसे चुपचाप वापस लौट जाना चाहिए, लेकिन न जाने क्यों वह आगे बढ़ा जा रहा था। सेकिंड-क्लास के गेट के बाहर एक खम्भे की आड़ में वह ऐसे खड़ा हो गया कि वह तो प्लैटफ़ार्म पर होने वाली हर गति-विधि को देख पाये, पर वहाँ के लोग उसे न देख सकें।

गाड़ी आने में अभी कुछ देर थी। मोटी स्त्री ने, जो रंग-ढंग से सत्या जी की सास लगती थी, सामान आदि रखवा और गिनवा लिया तो उस ने सत्या जी से एक ट्रंक पर बैठने को कहा। सत्या जी बैठ गयीं तो वह भी एक बिस्तर पर बैठ गयी। तब सत्या जी के पति ने उन से कुछ कहा। उत्तर में सत्या जी उठीं और उस के साथ सेकिंड-क्लास के वेटिंग-रूम में गयीं। शुक्ला जी और चातक जी बातें करते हुए स्टेशन के प्लैटफ़ार्म पर घूमने लगे। कुछ देर बाद सत्या जी सेकिंड-क्लास वेटिंग-रूम से निकलीं और अपने पति के साथ प्लैटफ़ार्म पर घूमने लगीं। जब वे गेट के सामने से गुज़रे तो जगमोहन ज़रा पीछे को हट गया। सत्या जी का पति उनसे एक-डेढ़ फ़ुट ऊँचा और ढाई-तीन गुना मोटा था। उम्र उनसे दुगनी और ठोड़ी उसकी अपनी माँ की तरह दोहरी थी। आँखों पर, शाम होने के बावजूद, ठण्डा चश्मा था—न जाने वह भैंगा था या काना या जाने उस की आँखों में क्या दोष था? पैसा उस के पास काफ़ी लगता था, क्योंकि सूट उस ने खूब बढ़िया पहन रखा था। लेकिन उस की क्रीज़ ठीक न थी और पहनने के ढंग से पता चलता था कि सत्या जी का पति धनी चाहे हो, पर सुसंस्कृत उतना नहीं और सत्या जी....वे स्वयं उस गहरे लाल रंग की भड़कीली बनारसी साड़ी और उन भारी गहनों में उसे बड़ी अजीब-अजीब लगीं। उन की आकृति पर कर्कशता की लकीर वैसे ही बनी थी। आम देखने वालों को लगता था जैसे

वे थकी हैं और उन के सिर में दर्द हो रहा है। पर इस पर भी वे हँस-हँस कर बातें कर रही थीं। जगमोहन क्षण-भर उन्हें चुपचाप खड़ा देखता रहा। सत्या जी के मन में इस अनजाने कुरूप आदमी के साथ सारा जीवन बिताने के विचार से कैसी भावनाएँ उठती होंगी?—उस ने सोचा—और सहसा उस का मन आर्द्र हो आया। वह मोटा, काना, कुरूप व्यक्ति क्या उन के उपयुक्त है? क्यों उन्होंने ऐसी जल्दी की? क्यों ठहर-सोच कर कहीं अपने बराबर के युवक से शादी नहीं की? जगमोहन के गले में गोला-सा अटक गया। उस के जी में आयी कि वह जाय और जा कर अपने उस क्रूर व्यवहार के लिए उनसे क्षमा माँग ले, पर तभी सत्या जी अपने पति के साथ वापस मुड़ीं और सहसा गेट से बाहर आ गयीं। यदि जगमोहन एकदम खम्भे के पीछे न हो जाता तो वे उसे देख लेतीं। वे अपने पति के साथ बातें करती हुई बाहर को चली गयीं। उनकी निगाहें निरन्तर किसी को ढूँढ़ रही थीं। उनके बाहर जाते ही जगमोहन प्लैटफ़ार्म के अन्दर चला गया और जिधर से वे अभी वापस आयी थीं, उधर जा कर एक खम्भे के पीछे छिप गया।

सत्या जी कुछ ही क्षण बाद फिर वापस प्लैटफ़ार्म पर आ गयीं। वे प्रकट बड़ी तल्लीनता और प्रसन्नता से अपने पति से बातें कर रही थीं, पर उनकी आँखें लगातार इधर-उधर भटक रही थीं। जब वे अपने पति के साथ वापस वहीं चली गयीं, जहाँ उनका सामान पड़ा था तो जगमोहन के जी में आयी कि एकदम भाग जाय, पर तभी चातक जी और शुक्ला जी बातें करते हुए उधर आते दिखायी दिये। वह झट रिफ़्रेशमेंट-रूम की ओर बढ़ा। पहला निरामिष था। वह उस के अन्दर जाने लगा था कि उसे खयाल आया, चातक जी कहीं उसी में न चले आयें! इसलिए वह सामिष में चला गया और उसने एक सोडा माँगा। रिफ़्रेशमेंट-रूम में काफ़ी भीड़ थी। चाय या नींबू के शरबत या लेमन का शोर मचा था। जगमोहन बाहर वाले दरवाज़े की ओट में बैठ गया कि इधर आने वाले की दृष्टि सीधी उस पर न पड़े। सामने काउण्टर के ऊपर शीशा लगा था, जिसमें दरवाज़े से आने-जाने वाले दिखायी देते थे। हालाँकि उन लोगों में से किसी के उधर आने की सम्भावना न थी तो भी उस ने पास की मेज़ से समाचारपत्र उठा कर अपनी आँखों के आगे रख लिया।